सूरज डूबने से सूरज उगने तक

●

विष्णु शर्मा

पूज्य अम्मा

के

चरण कमलों

में

भूमिका

मात्र प्रथा-पालन की दृष्टि से भूमिका लिखने में मेरा विश्वास नहीं है। जो ग्रंथ रचा गया है वही स्वयं लेखक का 'टेसटे-मेंट' होता है और उसके अतिरिक्त कुछ भी कहना, इसे मैं या तो लेखक की या पुस्तक की कमजोरी मानता हूँ। हो सकता है कि मुझमें और मेरी पुस्तक में भी कोई कमजोरी हो, लेकिन फिर भी कुछ बातें कह देना आवश्यक समझता हूँ। इसलिए वही कार्य कर रहा हूँ जिसे इतना बुरा भला कह चुका हूँ।

सर्व प्रथम यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि प्रस्तुत उपन्यास मैं नहीं लिखना चाहता था। उपन्यास की केन्द्रीय घटना मेरे अपने जीवन की एक घटना है और कथाकार की इस प्रवृत्ति को मैं अत्यन्त हीन समझता हूँ कि वह कथावस्तु के लिए अपने जीवन की ही घटनाओं का सहारा ले। इससे कतई यह आशय नहीं निकालना चाहिये कि मैं 'सबजेक्टिव' विचारधारा का विरोधी हूँ—बल्कि जैसा कि मेरे कुछ आदरणीय प्रगतिशील मित्र कहते हैं, मैं भयानक रूप से 'सबजेक्टिव' हूँ। (दूसरी विचारधारा से सम्बन्धित मेरे मित्र, मेरी प्रवृत्तियों को इसके बिल्कुल विपरीत बताते हैं हालाँकि मुझे पूरा विश्वास है कि दोनों में से किसी पक्ष के किसी मित्र ने मेरी कृतियों का अध्ययन नहीं किया है।) हाँ! तो कहना यह चाहता था कि प्रत्येक कला मूलतः 'सबजेक्टिव' के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती। नारों के इस युग में हम

शब्दों की आत्मा से अपरिचित हो गये हैं और स्वभाव में भाग-दौड़ की तेज़ी आ गई है—शायद समय इतना नहीं है कि हम रुक कर बात समझें; इसलिए जो भी शब्द या अर्थ या विचार मिल पाता है, उसे ही लेकर भाग पड़ते हैं। 'सबजेक्टिविज़्म' कलाकार का रोग नहीं, उसका बल है और उसका अर्थ (जैसा कि आम तौर पर समझा जाता है) व्यक्तिवाद या अन्तर की विकृतियों का चित्रण नहीं हैं। इसका अर्थ—जहाँ तक मैं समझता हूँ—यह है कि कलाकार अपने आप को संघर्ष के इतना क़रीब कर ले कि उसकी आग और तपन से कोयले का टुकड़ा हीरा बन जाय और उसमें इतना आर्जव और क्षमता आ जाय कि वह सारी अनुभूतियों की स्वस्थ और कलात्मक अभिव्यक्ति कर सके और उसकी कृतियों में उसके कञ्चन से व्यक्तित्व की आभा हो। इस एक बात को न समझने से साहित्य में आज दो विरोधी दल खड़े हो गये हैं—एक वह जिनका दृष्टिकोण सर्वथा नकारात्मक और अस्वस्थ है और दूसरा वह जो इतना स्वस्थ है कि उसमें कभी-कभी बुद्धि धँस नहीं पाती और रबड़ की गेंद की तरह दीवाल से टकरा कर लौट आती है। जहाँ तक मान्यताओं का प्रश्न है, मैं ईमानदारी को ही साहित्य की मूल मान्यता मानता हूँ—इसके अभाव में किसी भी 'वाद' या आदर्श को मैं निरर्थक और साहित्य के लिए घातक समझता हूँ।

उपन्यास के सम्बन्ध में शुरू में ही कह रहा था कि उसकी केन्द्रीय घटना मेरे जीवन की ही घटना है और इसी कारण उस पर लिखने के पक्ष में मैं नहीं था। लेकिन फिर विचार करने पर उसमें मुझे एक सामाजिक व्यापकता दिखायी दी और इसलिये अपने अनुभव को मैंने उपन्यास की सूरत दी। इस दिशा में जो कुछ मुझे कहना है, वह उपन्यास में कह ही चुका हूँ, अतः यहाँ

स्थान नष्ट करना अनावश्यक है। साथ ही मुझे दो निवेदन करने हैं—एक, पाठकों से, कि वह इस उपन्यास को मनोरंजन या समय काटने का साधन न समझें, बल्कि दिल को आज़ाद करके, उस बात को सुनें जो मैं उनसे कहना चाहता हूँ और जिसके लिये मैंने पसीना भी गिराया है और रक्त भी—शायद इस पुरस्कार का हकदार तो मुझे वह मानेंगे ही और उससे वञ्चित न रखेंगे। दूसरा निवेदन मुझे आलोचकों से करना है और वह यह कि उपन्यास को वह ईमानदारी की कसौटी पर ही परखें। जो कुछ भी उन्हें कहना होगा उसे मैं नतमस्तक स्वीकार करूँगा अगर आलोचना पक्ष वादिता से रहित होगी।

अन्त में यह कहना चाहता हूँ कि पक्ष-रोग के कारण मेरे दोनों उपन्यासों : (१) प्रस्तुत उपन्यास, (२) मनोवर की छाँह का प्रकाशन कभी सम्भव न हो पाता और इस कारण भाई श्री निवास अग्रवाल जी का आभारी हूँ कि उन्होंने इन दोनों का प्रकाशन अपने हाथ में लिया। रचना-क्रम के अनुसार यह मेरा दूसरा उपन्यास है, लेकिन सम्भव है कि पाठक के सामने पहले यही आये।

इलाहाबाद विष्णु शर्मा

१

दूर-दूर सागर का छोर—डूबता हुआ दिशाओं में—क्योंकि छोर सागर का तो नहीं होता, दृष्टि का होता है—क्षितिज की पतली, सुरमई सी रेख और उसके ऊपर आकाश—जितना भी दिखाई पड़ सकता है—

और दूरी के उस पार—क्षितिज की पलकों में डूबता हुआ सूरज !

एक गहरा निश्वास सूखे होठों को कँपकँपाता हुआ फड़फड़ा देता है खिड़की में पड़े हुए झीने नीले 'वॉयल' के पर्दे के एक चिथड़े को ! खिड़की के चौखटे से बँधी हुई दृष्टि देख रही है—दूर आकाश में डूबते हुए सूरज को—आकाश के खोखले में बिखरते हुए—गहरे होते हुए—सांवलेपन की हद तक गहरे होते हुए—रङ्गों को—सिलेटी, फिरोज़ी, लाल, नारंगी, हरे और पीले—लटो की तरह झूमते हुए मेघ खण्डों को बिखरते हुए वेदना के आकारों में !

सूरज डूब रहा है—साँझ झुक रही है—न जाने किधर-किधर से—एक गीलापन—एक भारीपन—एक उदासी—साँझ—कोई गहरी—शिथिल सी वेदना जो उठ भी नहीं पाती अपने ही बोझ से और फिर आने वाली काली—भयानक रात—प्रकाश का एक

चिह्न-मात्र भी नहीं—क्योंकि आज की रात अमावस की रात होगी और अमावस की रात चाँद नहीं निकलता—और रात की उस गम्भीर निःस्तब्धता को भंग करके और भी गहरा बनाता हुआ सागर की लहरों का क्रन्दन—उनकी आहें, नारियल के झुरमुटों की सरसराहट !

खिड़की के चौखटे—तंग चौखटे—से दृष्टि मुक्त कैसे हो विवेक की ओर झाँक सके इधर और उधर—बोझ से स्वतन्त्र, उन्मुक्त, लापरवाह, अल्हड़, जवान—मनमाने किसी भी वस्तु को स्वीकार करती या न करती, चखती या न चखती, तोलती या न तोलती, देखती या न देखती, बन्द द्वार जिसके लिए खुले होते जिसमें वह घुसती या न घुसती—कुछ अनिवार्य नहीं—भागना, दौड़ना, गिरना, चोट खाना, विवशता से हँसना या रो देना—कुछ अनिवार्य नहीं जिसे—वह दृष्टि तो नहीं विवेक के पास ! चौखटे हमेशा रहे हैं उसके चारों ओर—उसकी दृष्टि के चारों ओर, उसके व्यक्तित्व के चारों ओर—उसके संघर्षों के चारों ओर—ज़िन्दगी के चौखटे, परिस्थिति के चौखटे—वेदना के चौखटे—किरण को बाँधे हुए ! और अब भी वही चौखटा—दृष्टि के चारों ओर—बाँधे हुए और कोने में, हवा में काँपता हुआ एक जाला जो बड़े श्रम से एक मकड़ी बुने जा रही है !

और सूरज—जो और गहरा धँस गया है—नाखून का एक कोर जैसा—और सागर की लहरें क्षितिज के पास पहुँच कर सपाट और निर्जीव सी होती हुई और आकाश में गहरा होता हुआ अन्धकार और काले पड़ते हुए मेघ खंड—वेदना के आकार—भारी और गहरे और बीच में खडे हुए ठूँठ से—नंगे से—नारियल के वृक्षों के तने ! बस इतना दिखाई पड़ रहा है चौखटे में

से—क्षितिज के अन्तर में डूबा हुआ वह सूर्य नहीं दिखाई पड़ता जो अभी चमकदार है—वह दिन नहीं दिखाई पड़ते जो धूप से भरे हुए हैं—सागर से टकरा कर उमंग और उछाह से कांपती हुई लहरें दिखाई नहीं पड़तीं—सीमाओं के बाहर वह आकाश नहीं दिखाई पड़ता जो अभी इतना काला नहीं पड़ा है और नारियल के वृक्ष की जड़ें नहीं दिखाई पड़तीं—फल नहीं दिखाई पड़ते—सब कुछ बीच-बीच का दिखाई पड़ता है, जो ठोस नहीं है—जिसमें जीवन नहीं है और न पूर्ण मृत्यु ही, एक अधूरापन है—कमजोरी है—कुछ-कुछ अनिश्चित—एक छटपटाहट है! और उस चौखटे के अन्दर—उस दायरे के अन्दर—सांझ की और अधिक गहरी होती हुई कालिख!

लहरों का क्रन्दन और ज्यादा गम्भीर और दारुण हो गया है—एक चीत्कार सा—और नारियल के पत्तियों की सरसराहट और ज्यादा करुणाजनक हो गई है—एक लम्बी—गहरी आह की तरह, एक सिसकी की तरह और कमरे के अन्दर मृत्यु की तरह बहता हुआ गाढ़ा—काला—गीला अंधकार! अथक परिश्रम के बाद मकड़ी ने जाला पूरा कर लिया है और वह उस श्रम से हारी हुई, निर्जीव सी, एक कोने में बैठी है तारों से चिपकी हुई! धरती के गीलेपन में से कोई कीड़ा उभर कर सांझ में अपने भारी पंखों को फड़फड़ाता हुआ कमरे के और भी गहरे अंधकार की तरफ बढ़ रहा है—बढ़ रहा है...

विवेक सिहर उठा—कुछ अपनी वेदना से उतना नहीं—आह! वह एक दूसरी सी याद है जिसके लिए उस समय वह शायद बहुत शिथिल है! नहीं! उस पतंगे के लिये—धरती के गीलेपन में से उभरे हुए इस कीड़े के लिये! यह क्या आदत है विवेक

की कि वह उलझ जाता है साधारण, अर्थहीन सी बातों में जब कि वह स्वयं घोर संकटों में फँसा होता है!

वह स्कूल से घर लौट रहा था साइकिल पर कि एकाएक वह भिन्ना कर—खड़बड़ा कर गिरा—किताबें बिखर गईं—साइकिल कुछ दूर पर और दो गज़ आगे ठहरा हुआ ताँगा—उसकी तरफ राह चलते आदमियों का भागता हुआ जमघट—हुल्लड़ मचाता हुआ! और वह देख रहा था साइकिल के मुड़े हुए पिछले पहिये को—जिसके पाँच 'स्पोक' टूट गये थे—तीसरे पहर की धूप में चमकती हुई घोड़े की पिछाड़ी को और भीड़ के बीच में अपराधी की तरह खड़े हुए एक साहब को जो बार-बार एक बड़े से रूमाल से पसीना पोंछ रहे थे—उनकी 'टाई' बहुत खूबसूरत थी—हल्के नीले रंग की जिस पर फ़िरोजी छपाई थी बेलों की—सड़क पर गाते हुये अन्धे भिखारी के गीत के अन्तिम बोल उसके कानों में थे और फिर सब शून्य—चोट की गहराई से बेहोशी आ गई थी।

या जैसे, अवस्था बढ़ने पर, जब वह लेखक हो गया था—लेखक होने के वह अद्भुत और शानदार मगर तीव्रतम संघर्ष के दिन—ऊपरी तौर पर बेकारी के दिन—जब वह मित्रों के साथ बैठ कर कहवाघरों में 'काफी' के पन्द्रह—बीस या अधिक प्याले पी जाता था या घूमता था दिशाहीन—उद्देश्यहीन सड़कों पर, बसों में, रिक्शा पर, दूकानों के सामने की पटरी पर—कुछ सोचता न जाने क्या सोचता या रातें—और फिर वही सड़कें नापने या चाय—काफी पीने का अनवरत क्रम, सामग्री जुटाता—देखता समझता—सुनता—भूल जाता या फिर वही सब—वह अपने विविध अनुभवों को बाँधता, उन्हें कहानी का जामा पहिनाने का प्रयत्न करता घूम रहा था—और कुछ समझ में नहीं आ रहा

था—आस-पास, इधर-उधर, हर तरफ जो कुछ हो रहा था, उसकी ओर विवेक का ध्यान नहीं था—वह पूर्णतया अपने अन्दर ही खोया हुआ था—स्त्री-पुरुष या पति-पत्नी का एक जोड़ा उसके थोड़ा आगे चला जा रहा था—सड़क पर पड़ते हुये उनके जूतों की आवाज़—लगातार—उनके जूते—उनके वस्त्र—उनके शरीर और आकार—उनका साथ होना—उनके व्यक्तित्व—धीरे जैसे यह अनिवार्य सा हो गया कि वह—विवेक—उन दोनों को जाने—उनको जैसे एकाएक सामने से जाकर देख ले—काश, किसी तरह उसे मालूम पड़ सके कि वह क्या देखते, सोचते, समझते हैं—उनका पारिवारिक जीवन कैसा है—सुखी या दुखी—या खोखला, भावनाहीन—उबाने वाला—पुरुष को कितना वेतन मिलता है—स्त्री के कितने बच्चे हैं—यह सब जैसे पूरी तरह अनिवार्य हो गया ! क्या कहानी—कैसी कहानी ? सड़क के बाद सड़क—चौराहे के बाद चौराहा—अन्त में एक तांगे पर सवार होकर वह जोड़ा चला गया और सिनेमा हाल के बरामदे में खड़े होकर विवेक ने सिगरेट जला ली।

कोई नई बात तो नहीं थी, इसलिए उसकी यह मनोवृत्ति—संकट के बीच में जैसे उसका एक व्यक्तित्व अन्दर सिमट कर समस्या से जूझता रहता था और दूसरा स्वतन्त्र सा होकर बाहर—बेमतलब—व्यर्थ की आवारागर्दी किया करता था।

और गीली मिट्टी में से उभरा हुआ वह नाचीज पतंगा उड़ा आ रहा है—कमरे की ओर—और खिड़की के चौखटे के कोने में बने हुए जाले में सहमी—सिकुड़ी हुई मकड़ी ! क्यों कांप रहा है विवेक ? क्या महत्व है उस मकड़ी का—उस कीड़े का लेकिन जैसे यह समस्या उस सब से अधिक महत्वपूर्ण है जिसका वह सामना

कर रहा है—जैसे जीवन और मृत्यु का हो वह प्रश्न ! संकट चाहे शारीरिक हो या मानसिक लेकिन आवश्यक था कि विवेक किसी बहुत छोटी-सी—मामूली सी घटना में फँस जाय ! और कीड़े और मकड़ी की यह अघटित घटना का ही क्या महत्व था लेकिन विवेक के लिए यह समस्या बहुत अहम् थी...

चेतना का कोई ,बाह्य भाग गिरफ्तार था इस उलझन में लेकिन शरीर के अन्दर—बहुत अन्दर—विवेक कराह रहा था, सिसक रहा था—दबा हुआ चिन्ताओं से, मुसीबतों से, समस्याओं से......

सूखे हुए होठों पर एक कड़ुवी सी मुस्कान है जैसे चाँदनी पड़ती है तूफानों से मँजे हुए अस्थि पिंजर पर और आँखों में एक गहरा भय और चिंता.....

कीड़े के लिये जो उड़ा आ रहा है...

जैसे रात पिघल कर धरती पर बरस रही है—लहरों का गर्जन और ज्यादा गहरा हो गया है—हवा थोड़ी और पागल हो गई है—जाले के तार काँप उठते हैं जैसे मकड़ी ठिठुर रही हो—खिड़की पर पड़े हुए नीले 'वॉयल' के पर्दे का एक चीथड़ा जोर से लहरा उठता है उस औरत के बालों की तरह जो बहुत देर पहले सागर में डूबने के बाद मरी हुई निकाली गई है—सूखे हुये बालों की एक लट विवेक के माथे पर उड़ आई है...

कमरे की बत्ती बुझी हुई है—(उठकर बत्ती का 'स्विच' 'ऑन' कौन करता)—पास सेठी के कमरे में रिकार्ड बज रहा है—होटल के मालिक की लड़की, सोनिया, होटल के कमरे नं० १६ में रहने

वाले रईस युवक के साथ टहल रही है—नं० १६ का हाथ सोनिया की कमर में है और वह उस सीढ़ी की तरफ जा रहे हैं जो मागर-तट की बालू पर उतरती है—

—सोनिया, कोई शायद सोलह-सत्रह वर्ष की लड़की, मँझोला कद, साँवला सा रंग लेकिन खाल में मुलायमियत मक्खन सी, आँखों में जादू भरी गहराइयाँ—चौड़ा सा माथा—बीच मे सादे ढंग से कढ़े हुए बाल लेकिन पीछे की तरफ अंग्रेजी ढंग के जूड़े में बँधे हुए—पीली और नीली छींट का 'फ्रॉक' और इसके पीछे जैतून के वृक्ष सा नर्म, नाजुक, चिकना भरा हुआ यौवन, हाथ में—बायें हाथ में—रोल्ड-गोल्ड की एक चूड़ी—गले में एक पतली सोने की चेन में लटका हुआ 'क्रॉस' और पैर में बिना पेटी बँधे हुए सैन्डेल—सोनिया! वय: सन्धि—बचपन, जवानी—सोनिया! मैं सोनिया को अक्सर देखता हूँ—गौर से देखता हूँ—प्रेम का प्रश्न नहीं उठता—मैं और सोनिया, सोनिया और मैं—वह मेरा स्वप्न है और इसलिए सत्य से बहुत दूर और प्यार सत्य है—सोनिया! बस एक बार मैंने सपने में देखा था कि गिरजे में पादरी के सामने सोनिया और मैं खड़े थे—पादरी के हाथ में एक पुस्तक थी और सोनिया एक सफेद और चमकदार और झीनी पोशाक में खड़ी थी—जैसे चांदनी भरे हुये कुहासे की हो—और वैसा ही एक पर्दा उसके चेहरे पर पड़ा हुआ था मगर उसका चेहरा रह-रह कर लाज से लाल पड़ जाता था मानो कोहरे की चादर के पीछे सूरज उग रहा हो—स्वप्न, सोनिया, सत्य! मुझे सोनिया बहुत अच्छी लगती है—अच्छा नहीं लगता है सोनिया का घूमना नं० १६ के साथ—सोनिया ने कभी मेरी तरफ नहीं देखा है—

सोनिया नं० १६ के साथ सीढ़ियों की तरफ चली जाती है और विवेक की आँखों के सामने रह जाते हैं नारियल के वृक्षों के तने— रात के दैत्यों के घुटनों की तरह! सामने वह जो बड़ा सा हॉल जैसा है—सब तरफ से खुला हुआ—उसमें 'बिलियर्ड' की दो मेजें हैं और दस-बीस मेज कुर्सियाँ—जिन पर होटल में रहने वाले अक्सर खाना खाते हैं और इतवार के दिन पारसी साहब और मेम साहब तैरने की भीगी हुई पोशाक पहिन कर कोने में रखे हुये ग्रामोफोन पर बजते हुए अँग्रेजी संगीत की लय पर 'बॉल-डान्स' करते हैं—

जब मैं आया था तब मैं लपहले तीन हफ्तों तक इस हॉल में अक्सर बैठकर अँग्रेजी रेकॉर्ड सुनता और काफी पीता था और अब— तीन महीने से—हॉल के किनारे पर बने हुये 'काउन्टर' पर बैठे हुये बर्टी की तेज और क्रोध से भरी हुई आँखों से बचने की अनगिनत उपाय निकालता हुआ मैं चुपके से अपने कमरे में घुस जाता हूँ—बर्टी—सोनिया का भाई—बर्टी—युवक—जिसके ऊपरी होंठ पर मसें भीग रही हैं—और यूँ बहुत अच्छा सा बर्टी जो सेठी के दोस्तों के लिए अक्सर नाजायज शराब की पूरी-पूरी बोतलें जैसे जादू से पैदा कर देता है—

हॉल के बीच से छत की टीन फोड़ता हुआ एक नारियल का वृक्ष है जिस पर काफी ऊँचाई पर एक बल्ब लगा हुआ है। उस बल्ब की कुछ रोशनी विवेक के कमरे के बरामदे पर पड़ती है! बरामदे के एक खम्भे पर लिपटी हुई बेल उस धुँधले प्रकाश में थोड़ी सी चमक रही है और उसकी एक पत्ती के चारों तरफ वह पतिङ्गा मँडरा रहा है—मकड़ी का जाला काँप रहा है उत्सुकता से—

नारियल के वृक्ष पर लटकती हुई बत्ती—खम्भे पर लिपटी हुई बेल—सोनिया–कल्पनाएँ—वर्टी–सेठी के दोस्त–नं० १६–सागर तट पर उतरने वाली सीढ़ी—मकड़ी का जाला—पतंगा—मकड़ी का जाला—पतंगा—पतङ्गा–हवा का झोंका जोर से आया—खुली हुई खिड़की का एक पट थोड़ा भिड़ा और मेज पर रखे हुये विवेक के अधूरे उपन्यास के पृष्ठ काँपे और हवा में झूमने लगे—झूमने लगे—काँपने लगे…

२

इगतपुरी से गाड़ी चल चुकी है। सवेरा हो रहा है! सूर्योदय के पहले का धीरे-धीरे अधिक चमकदार होता हुआ धुँधलका है। डिब्बे के दोनों तरफ लोहे के मेहराब हैं—अनगिनत—जिनमें हो कर गाड़ी जा रही है और लोहे के खम्भों में बिजली के मोटे-मोटे तार लिपटे हुये हैं। दोनों तरफ़ की भूमि पर काफी हरियाली है—एक—दो—पचास—सौ—हजार—अनगिनत वृक्ष हैं, लग-भग सब नारियल के और पास और दूर नाटी पहाड़ियाँ—वह भी हरी दूब से ढँकी हुई! यह पश्चिमी घाट की पहाड़ियाँ हैं—टनेल! डिब्बे में भीड़ है—लोगों में चर्चा है कि बम्बई अब ज्यादा दूर नहीं है। जो बैठे-बैठे सो रहे हैं वह आँखे [illegible] रहे हैं—

लगने लगी अपना कंधा हटाने में और घन्टों वह पेशावघर नहीं जा सका क्योंकि सोती हुई अवस्था में बूढ़ा कितना निराश्रय लग रहा था—लगता था जैसे डूबते हुये व्यक्ति के हाथ में से हाथ छुड़ा लिया जाय।

सामने खिड़की के पास बैठे हुये व्यक्ति ने खखार कर बाहर थूका और थूक की एक बूँद दूसरी खिड़की में से अन्दर घुसकर मेरी वाली सीट के कोने पर बैठे हुये एक व्यक्ति के गाल पर 'छप्' से पड़ी। तू-तू, मैं मैं शुरू हो गई—सामने की सीट पर बैठी हुई एक लजीली सी औरत की गोद में दूध पीता हुआ बच्चा शोर के कारण चीख कर रो पड़ा और माँ लाज के मारे बच्चे को सम्हाल न पाया —सूरज चढ़ गया था – और लड़ाई तू-तू, मैं-मैं से राजनैतिक मसलों पर बहस करने के स्तर तक उठ आयी थी—विवेक डिब्बे के बाहर का सुहावना दृश्य देख रहा था और चाहता था—पास से आवाज आई :

'अरे साहब ! खिड़की से झाँक कर देखिये न।'

विवेक मुड़ा—जो सज्जन रात भर उसके एक कधे का तकिया लगाकर सोये थे वह अब ठीक तरह से उठ बैठे थे लेकिन विवेक का कंधा बिल्कुल सुन्न पड़ चुका था और इसलिये उसे उनके उठने का पता तक न लगा था!

अचकचा कर विवेक ने उत्तर दिया : 'डरता हूँ कि आँख में कोयला न पड़ जाय!'

कुछ लोगों के चेहरे पर हल्की सी मुस्कराहट, कुछ क़हक़हे : 'अरे साहब ! इगतपुरी से रेल में बिजली का इञ्जन लग जाता है!' विवेक के पड़ोसी—बूढ़े सज्जन—ने कहा, उनके चेहरे पर जान-

कारी की चमक थी। लेकिन विवेक झाँक कर फिर भी कैसे देखता—खिड़की के बाहर...

गाड़ी रफ्तार से चली जा रही है—डरे हुये पशुओं की भाँति पेड़—पहाड़—टीले पीछे भागते जा रहे हैं और धरती नाच रही है अपनी धुरी पर। डिब्बे के अन्दर फिर वही मौन छा गया है—व्यक्ति, डिब्बा, रेल, पेड़, पहाड़, धरती—सब गति के पागलपन में गिरफ्तार—सब चकराये, घबराये, सहमे हुये—अखबार पढ़ते, ऊँघते, सोचते...

...पीछे छूट रहा है—दूर—दूर—बहुत दूर मुझ से—सब कुछ पीछे छूटा जा रहा है...मेरे अन्दर शक्ति है सब कुछ पीछे छोड़ने की? मेरे अन्दर कमज़ोरी है कल के सपने रचने की? मेरे अन्दर बालक का सा वह स्वस्थ भोलापन है कि मैं रह लूँ भविष्य में? नहीं—नहीं—नहीं है!...

...स्टेशन के 'यार्ड' की अन्तिम बत्तियां आँखों से ओझल हो रही थीं—प्रकाश के अन्तिम चिन्ह—गति पकड़ती हुई रेल पर कोई ज़ोर नहीं था विवेक का—होतव्यता थी—कुछ खास तो नहीं—बस आँसू की एक बूँद पलकों को भिगो रही थी! क्यों? धरती का रूप तब तक बदल चुका था—बदलता जा रहा था—मगर चेतना के अन्दर वही सब पुराना घिसटता चला जा रहा था, अपने आप! लाख झटकिये, लाख चाहिये—प्रयत्न कीजिये—अतीत का भार नहीं उतरता कंधों से—चिपका रहता है जैसे बन्द तहखाने में से निकलिये तो पुरानी मकड़ियों के जाले कपड़ों में—बालों में—हाथों में—लग जाते हैं और फिर छूटते नहीं! तो फिर विवेक खिड़की के बाहर मुँह निकाल कर देखता क्या—प्राकृतिक सौन्दर्य—बिजली का चमत्कार—हरा-भरी पर्वत-

मालाएँ—नाचती हुई धरती—नहीं—नहीं—केवल कल की घटनाएँ—कल के चित्र—कल की स्मृतियाँ—कल की हँसी और कल के आँसू...

'तो अब तुम जाओगे?'

'हाँ।'

'क्या जाना ही है?'

'हाँ!'

—मौन! मौन! मौन! टीन की छत से फर्श पर गिरती हुई बूँदों की टपाटप।

'खिड़की बन्द कर दो—हवा ठण्डी है!'

'अच्छा!'

फिर मौन! फिर मौन!

'बाबू जी से पूछ लिया है?'

'हाँ!'

'और...शशि?'

मैंने मुँह फेर लिया!

'नाराज हो गए?'

चुप!

'इधर देखो!'

बरौनियों में काँपते हुए आँसू—तकिए पर बिखरे हुए बाल—सूखे हुए होंठ—रक्तहीन—माथे पर डूबता हुआ चाँद—नीरा! नीरा! नीरा!

अन्तर फट रहा है—आँसुओं का सैलाब टूटा पड़ रहा है—

ध के पीछे ! आँसू नहीं – चीखें नहीं—सिसकियाँ नहीं –
सम्भव ! मैं होंठ दाँतों से दबा लेता हूँ –

'मुझे क्षमा कर दिया ?'

चुप !

'नहीं !'

चुप !

'एक कृपा करोगे ?'

'हूँ !'

'मेरे आँसू चूम लो, विवेक !'

बाँध टूट जाय क्या ? क्या जानती है नीरा उसको जो मेरे मन में है ? नीरा, जिसको मैंने आज तक कभी नहीं छुआ—
नीरा – नीरा – नीरा....

मेरे दिल में नीरा आई एक राग की तरह—गीत भी नहीं—राग—एक मद्धिम – उदास राग !

तब सब कुछ टूट रहा था—जैसे चारों तरफ जो कुछ था वह सब सड़-सड़ कर, टूट-टूट कर गिर रहा था—इस इतने बड़े संसार—इतने बड़े समाज—इतने बड़े शहर के बीच में—दीवाल के इस ओर बर्बादी है—उस ओर क्या है ? शोर – भीड़ – चीख़—पुकार—भाग—दौड़—किस लिए ? किस लिए ? किस लिये ? क्या जो कुछ घुट-घुट कर मर रहा था उसके अन्दर नक़ली जीवन – नक़ली गति – नक़ली स्पन्दन भरने के लिए—पता नहीं—सोचता हूँ—लेकिन पता नहीं—क्या मैं सही सोचता

हूँ, या केवल इसलिये कि जो कुछ मेरे व्यक्तित्व से सम्बन्धित है वह टूट रहा है, मर रहा है—

—जो भी हो, हम मर रहे थे, चाहे हमारी चीख अकेली हो या अनेक में से एक, मगर हम मर रहे थे—माँ की मृत्यु—पिता की बुढ़ापे में नौकरी छूट जाना और परिवार के लिए सबसे बड़ा दुर्भाग्य—मैं—लेखक—न जाने क्यों—मगर लेखक—समाज से विद्रोह—परिस्थिति से विद्रोह—भाग्य से विद्रोह—मगर कितना—कैसा ? सब के चारों तरफ चौखटे—घुटन और फिर उत्तेजना। परिवार—पैसा—संघर्ष—माँ की मृत्यु—पिता की छूटी हुई नौकरी—दुर्बल शक्तिहीन हाथ—बिना कहे मेरा मुँह ताकते हुये—और मैं लेखक—लेखक—लेखक; उपन्यास, जिनके लिये उचित पारिश्रमिक नहीं मिलता, कहानियाँ जिन्हें सम्पादक छाप देना ही काफी समझते हैं—पारिश्रमिक का प्रश्न कहाँ उठता है। कर्ज—तेजी से बढ़ता हुआ कर्ज—कर्ज....

—शशि !

—बहन !

—जिसका विवाह करना है !

—पिता के बूढ़े—कमजोर हाथ !

—मैं—लेखक !

—शशि !

डिब्बे के अन्दर दम घुटा जा रहा है विवेक का। नाचते हुए मैदान, झूमते हुये वृक्ष और पर्वत, आते और फिर तेजी से चले जाते हुये स्टेशन—सब, सब कुछ नहीं। डिब्बे के अन्दर की भीड़ में

किसी का भारी जूता पूरी तरह विवेक के पैरों की उँग-
लियों पर पड़ा—छोटी उँगली की कोने की खाल फट गई
और गहरा लाल रक्त निकला, बहा और जम गया।
सब कुछ नहीं—पूरा शून्य—गहरा—ठोस—अँधेरे से भरा
हुआ...

शशि! पाँच साल तक बहन की शादी करने का प्रयत्न—
पूरी तरह असफल। हर बार रिश्ता टूटता था, हर बार कोई
देखने आता और इस बात पर आश्चर्य प्रगट करता हुआ चला
जाता कि विवाह में केवल बहू मिलेगी। यौवन और निराशा,
निराशा और यौवन—गहरी होती हुई पीर—बढ़ती हुई उमङ्ग जो,
बार-बार चोट खा-खा कर कुण्ठित हो जाती थी—बूढ़ा, लाचार
बाप—भाई—अच्छा, भला, प्यारा परन्तु लेखक—बहन का
प्यार—युवती की अधूरी उमङ्ग—चोट खाए हुये अरमान! फिर एक
दिन शशि का पता नहीं—केवल एक पत्र: 'भैया—मुझे क्षमा
करना। मैं जा रही हूँ रंजीत के साथ!' हाँ—रंजीत! जो साथ
पढ़ता था विवेक के—रईस, देखने में अच्छा, जो कुछ बार आया
था विवेक के घर! शशि और रंजीत! और एक दिन शशि लौट
आई थी—घर पर नहीं—कहीं और—और उसने चाहा था कि
विवेक कभी न मिले उससे—बहन की यह बात भी मान्य थी
उसे। बस कभी चुपके से वह देख आता था उसे जो उसकी बहन
है—जो है लहर के लौट जाने के बाद तट पर बेकार समझ कर
फेंकी गई सड़ी हुई चीज़—बहन!

सब टूटा हुआ—सब बिखरा हुआ—हर तरफ अन्धकार—
वीराना—मौत!

मानसिक व्यथा और गहरे दुखों के कारण लिखने को जी

नहीं करता था—कर्ज बढ़ता जा रहा था ! किसी ने आकर कहा : 'विवेक भैया, आप लोग ऊपर का हिस्सा किराए पर क्यों नहीं उठा देते, खाली तो पड़ा रहता है !' तो किराएदार आ गए—पिता और पुत्री ! पिता नौकर थे किसी दफ़्तर में और कहीं बाहर से आये थे और पुत्री...सूखे हुए से बाल—आम तौर पर बिखरे हुये से—कुम्हलाया हुआ सा चेहरा और बड़ी-बड़ी उदास आँखें—उदास और मीठी—उस स्नेह से लबालब भरी हुई जो कभी किसी को दिया नहीं जा सका...

नीरा...

एक दर्द भरा राग—मद्धिम—उदास—गीत भी तो नहीं—इतना नाजुक !

स्टेशन—स्टेशन—स्टेशन ! पेड़—पहाड़—धरती—सब कुछ पीछे छूटा जा रहा है, पर फिर भी कुछ नहीं। सब कुछ साथ—इस गति के, शोर के, भीड़ के बावजूद—वेदनाएँ, चिन्ताएँ, स्मृतियाँ...

'तुमने सुना ! जानते हो राकेश के क्या हाल हैं आजकल ?'

'होगा कहीं—टक्करें मारता हुआ !'

विवेक बिल्कुल चुप बैठा है।

'नहीं भाई ! उसके ठाठ हैं—पता लगा है उसे दो फिल्मों की कहानी लिखने का 'कान्ट्रेक्ट' मिल गया है—दस हजार !'

'होगा ! 'थर्ड-रेट राइटर है—'

'खैर, हममें से काफ़ी लोग बम्बई में जम चुके हैं। यहाँ

किसी का भारी जूता पूरी तरह विवेक के पैरों की उँग-
लियों पर पड़ा—छोटी उँगली की कोने की खाल फट गई
और गहरा लाल रक्त निकला, बहा और जम गया।
सब कुछ नहीं—पूरा शून्य—गहरा—ठोस—अँधेरे से भरा
हुआ...

शशि! पाँच साल तक बहन की शादी करने का प्रयत्न—
पूरी तरह असफल। हर बार रिश्ता टूटता था, हर बार कोई
देखने आता और इस बात पर आश्चर्य प्रगट करता हुआ चला
जाता कि विवाह में केवल बहू मिलेगी। यौवन और निराशा,
निराशा और यौवन—गहरी होती हुई पीर—बढ़ती हुई उमङ्ग जो,
बार-बार चोट खा-खा कर कुण्ठित हो जाती थी—बूढ़ा, लाचार
बाप—भाई—अच्छा, भला, प्यारा परन्तु लेखक—बहन का
प्यार—युवती की अधूरी उमङ्ग—चोट खाए हुये अरमान! फिर एक
दिन शशि का पता नहीं—केवल एक पत्र: 'भैया—मुझे क्षमा
करना। मैं जा रही हूँ रंजीत के साथ!' हाँ—रंजीत! जो साथ
पढ़ता था विवेक के—रईस, देखने में अच्छा, जो कुछ बार आया
था विवेक के घर! शशि और रंजीत! और एक दिन शशि लौट
आई थी—घर पर नहीं—कहीं और—और उसने चाहा था कि
विवेक कभी न मिले उससे—बहन की यह बात भी मान्य थी
उसे। बस कभी चुपके से वह देख आता था उसे जो उसकी बहन
है—जो है लहर के लौट जाने के बाद तट पर बेकार समझ कर
फेंकी गई सड़ी हुई चीज़—बहन!

सब टूटा हुआ—सब बिखरा हुआ—हर तरफ अन्धकार—
वीराना—मौत!

मानसिक व्यथा और गहरे दुखों के कारण लिखने को जी

नहीं करता था—कर्ज बढ़ता जा रहा था ! किसी ने आकर कहा : 'विवेक भैया, आप लोग ऊपर का हिस्सा किराए पर क्यों नहीं उठा देते, खाली तो पड़ा रहता है !' तो किराएदार आ गए—पिता और पुत्री ! पिता नौकर थे किसी दफ्तर में और कहीं बाहर से आये थे और पुत्री...सूखे हुए से बाल—आम तौर पर बिखरे हुये से—कुम्हलाया हुआ सा चेहरा और बड़ी-बड़ी उदास आँखें—उदास और मीठी—उस स्नेह से लबालब भरी हुई जो कभी किसी को दिया नहीं जा सका...

नीरा...

एक दर्द भरा राग—मद्धिम—उदास—गीत भी तो नहीं—इतना नाजुक !

स्टेशन—स्टेशन—स्टेशन ! पेड़—पहाड़—धरती—सब कुछ पीछे छूटा जा रहा है, पर फिर भी कुछ नहीं । सब कुछ साथ—उस गति के, शोर के, भीड़ के बावजूद—वेदनाएँ, चिन्ताएँ, स्मृतियाँ...

'तुमने सुना ! जानते हो राकेश के क्या हाल हैं आजकल ?'

'होगा कहीं—टक्करें मारता हुआ !'

विवेक बिल्कुल चुप बैठा है ।

'नहीं भाई ! उसके ठाठ हैं—पता लगा है उसे दो फिल्मों की कहानी लिखने का 'कान्ट्रेक्ट' मिल गया है—दस हजार !'

'होगा ! 'थर्ड-रेट राइटर है—'

'खैर, हममें से काफी लोग बम्बई में जम चुके हैं । यहाँ

काफ़ी के पैसे नहीं होते थे—अब मकान, मोटर, क्या नहीं ? क्यों विवेक ?'

बम्बई — फिल्म — पैसा — पिता जी—नीरा — क्षय — शशि — कर्ज़ — क्षय — नीरा...

—मैं बम्बई जाऊँगा, मैं बम्बई जाऊँगा ! मैं दौलत नहीं चाहता — मैं मकान नहीं चाहता—मैं मोटर नहीं चाहता लेकिन पिता जी — नीरा — क्षय — शशि — कर्ज — क्षय — शशि — नीरा — क्षय — नीरा — नीरा — नीरा...

डिब्बे में एक चीख, पुकार, शोर, भभ्भड़ !

'बम्बई आ गया !'

'क्या बम्बई आ गया ?'

'हाँ ! बम्बई आ गया ।'

रेल में से उतरते हुये यात्री—थके हुये—जैसे डिब्बों को क़ै हो गई हो — बक्स, बिस्तर, बन्डल, कुली, बच्चे, औरतें, आदमी, माँएँ, खोंचे वाले, रेल के बाबू...

...विवेक !

...सब क्यों ?

हर तरफ अनेक प्लेटफार्म—ऊपर क़फ़न की तरह ढकी हुई छत;बाहर शहर — माँएँ—बच्चे — पुरुष — व्यवसाय — क्या वे — माने ? पैसा — चिन्ताओं से मुक्ति और फिर—चिंताएँ...

...अनवरत् — अनवरत्—अनवरत् !

कमरे के अँधेरे में सूखे हुये होंठो पर मद्धिम सी मुस्करा-

हट, बाहर गम्भीर और काली रात – अकेली – बाहर सागर की लहरों की चीखें—पेट में भूख के दर्द की ऐंठन...भूख...भूख...भूख...

एक सिगरेट और फिर उसके बाद दूसरी – अन्तिम । दियासलाई का खरखरा कर जल उठना – उसके बाद फिर घुप ।

मैं—अन्धकार की अथाह थाह मे मैं – ऊपर तुषार के पर्वत – वेदनाएँ – चिन्ताएँ— तकलीफें – भूख – भूख – नीरा—भूख – पिता जी – भूख—शशि – भूख—सब कुछ—मगर भूख – मगर भूख...

२

बासठ रुपये—साढ़े सात आने !

बम्बई में आये हुये पाँचवाँ दिन !

लेकिन क्या ? कुछ समझ में आया विवेक के—कुछ नहीं—कुछ नहीं !

एक तूफान सा था यह शहर—यह बम्बई। दो मञ्ज़िल, चार मञ्ज़िल; छः मञ्ज़िल ऊँचे मकान, कोठियाँ, बसें, ट्रामें, टैक्सियाँ, बग्घियाँ, सड़कें, होटल, दूकानें और आदमी भी—अनगिनत। विश्रामहीन गति और उसमें आदमी। उस गति के कारण कोई व्यक्ति अलग—छँटा हुआ—नहीं दिखाई पड़ता था; किसी भी व्यक्तित्व का साफ़ चित्र चेतना पर नहीं उभरता था—सब एक दूसरे में घुले-मिले, भिदे हुए जैसे किसी नाचती हुई वस्तु पर बने हुए आकार साफ़ नहीं दिखाई पड़ते—एक मिटा-मिटा सा धुँधलापन—केवल—कुछ भिन्न नहीं—सब एक और सब क्यों ? व्यक्ति नहीं—जन समूह—पर्वत का एक खण्ड काँपता हुआ गति के बवंडर में और इन्हीं सब में। माता-पिता, भाई, कर्मठ युवक-युवतियाँ—संघर्षों की बन्द होती हुई कटीली दाढ़ों को अपने दो निर्बल हाथों से खुला रखने का प्रयत्न करते हुये......

...और इस सब में मैं भी लेकिन कहाँ—कौन ?

बासठ रुपये साढ़े सात आने और भविष्य अनिश्चित ! जिस होटल में विवेक को सिर छिपाने के लिये ठहरना पड़ा था, उसमें रहते रहना असम्भव था। चार रुपये रोज ! भोजन मगर ऐसा जिसे पेट स्वीकार नहीं कर सकता और फिर फ्रेयर रोड का कुछ भारी-भारी सा वातावरण—गन्दगी, बदबू, सड़ाँध, ह्विस—उफ़! और जिस गली में होटल था वह वह और भी तंग—सड़क से अधिक घुटन। तीसरी मञ्जिल पर दियासलाई के बराबर एक कमरा। दीवाल पर कहीं कलई छूटी हुई—कहीं नोनी लगी हुई—कहीं चूने की उखड़ी हुई पपड़ियाँ। छत में एक कोने की तरफ सीलन। रात भर बराबर के कमरों में शोर-गुल, हू—हप, बहकी बहकी बातें, वासना से काँपती हुई चीखें या आहें। दिन में विवेक के कमरे की अकेली खिड़की के ठीक सामने किसी दूसरे मकान के तिमञ्जिले की खिड़की में खड़ी होकर मुस्कराने वाली ईसाई की लड़की जो अक्सर अपनी खिड़की पर ग्रामोफोन रख कर फिल्मों के शोख रेकार्ड बजाया करती थी। परेशान होकर, नाराज होकर, झुँझला कर विवेक खिड़की बन्द कर देता था परन्तु कब तक ? बन्द कमरे में दम घुटने लगता था और खिड़की खोलिये तो वह दूसरी खिड़की इतनी निकट थी कि लगता था जैसे उस लड़की की गन्दी साँस विवेक के माथे को छू रही है—

इसलिए अधिकतर बाहर ही—सड़क के बाद सड़क—बस्ती के बाद बस्ती—गति का तूफ़ान—इन्सानों का रेला—दौलत का पीला तांडव—फुटपाथों में सिमटे सिकुड़े हुये बेघर—सागर—गेटवे—मैरीन ड्राइव—चौपाटी—मालाबार हिल—मकान—होटल—दूकानें—सिनेमाघर—बसें—ट्रामें—टैक्सियाँ—

और आदमी — और आदमी — कोई
ियाँ—और आदमी—और आदमी और आदमी — कोई
क नहीं — कोई अलग नहीं—सब मिले हुये—सब जुड़े हुये —
ूरज उगने से सूरज उगने तक व्यापार, क्रय-विक्रय, लेन-
देन, धन का—शरीरों का — आत्माओं का — हर चीज का...
...और इसलिए अवकाश नहीं...किसी को अवकाश नहीं...

...सड़क पर पड़ा हुआ एक शरीर — मुर्दा—न जाने कब से
भूखा—न जाने कब से—मगर अब निर्जीव, भूख से परे,
वेदना से दूर। कभी जीवित और इसलिए संघर्षों से, चिन्ताओं
के बिल्कुल — बिल्कुल निकट — उस दौड़ में भागता, गिरता,
सम्हलता, फिर चोट खाता—फिर चोट खाता—हर दिन और
अधिक शिथिल। शरीर में जान नहीं कि उठ कर चल सके।
इसलिये दिन-रात फुटपाथ पर दीवाल का सहारा लगाये हुये
और पथराई हुई आँखों के सामने उसके अतिरिक्त और सब—
कुछ सफल—कुछ असफल लेकिन सब। लोगों को चलने की
राह देने के लिये दीवाल के और निकट—और निकट सिकुड़ता
हुआ। फिर भी कभी शरीर का कोई अंग कुचल जाता था!
और अब मुर्दा—दूर इस सब से! लेकिन अवकाश किसे कि
देख ले उसकी तरफ, आँसू टपका दे उसके सूखे हुये बालों पर
या न भी सही तो केवल एक दृष्टि ही सही लेकिन कुछ नहीं।
और कभी उसके दिल में आशा रही होगी! दूर एक माँ, पत्नी,
प्रेयसी, बच्चे और एक आशा कि वह, उनका रक्षक, कुछ कर
सकेगा उनके लिये और इसलिए संघर्ष—और इसलिये भाग-
दौड़—गिरना—चोट खाना—भूखा रहना — फिर शारीरिक शिथि-
लता—फिर मानसिक शिथिलता—फिर मृत्यु केवल एक दया—
भाग्य की या परिस्थिति की—फिर पीछे छूटे हुये सम्बन्धी, संघ

में उसकी सफलता पर निर्भर और अब ? अब वह क्या मर गये होंगे, उसके मर जाने पर जिस पर वह निर्भर करते थे ?

...पिता जी, नीरा, कर्ज, शशि ! वह जो सब पीछे छूटे हुये हैं और मैं—उनके लिये—चाहे जो भी हो...

...मगर फिर भी एक आशा !

कुछ तो करना ही था और यहाँ इस होटल में कुछ कैसे होगा । चार रुपये रोज और काम कुछ नहीं और पाँच दिन बीत गये !

तो विवेक बराबर यह सोचता रहता था कि इतने बड़े गोरख-धन्धे में वह सूत्र कहाँ—कैसे मिले जिसको पकड़ कर वह सही रास्ते पर आ सके ? बहुत विचार किया, लेकिन कुछ समझ में नहीं आता था ! काम की खोज कहाँ से और कैसे आरम्भ की जाय ? एकाएक एक बात दिमाग में आई—उन दिनों 'बॉम्बे टॉकीज़' के फिल्म बहुत मशहूर थे और विवेक ने भी कई बार वह चित्र देखे थे और उसे याद था कि मलाद नाम का बम्बई से कोई भाग है जहाँ वह बनते हैं...तो...तो फिर मलाद ही क्यों नहीं...

...बम्बई के कई सबर्वों को मिलाने वाली बिजली की गाड़ी मलाद स्टेशन पर रुकी ! चर्च गेट से विवेक एक तीसरे दर्जे के डिब्बे में बैठा था । ठसाठस भरा हुआ डिब्बा था, भिन्न वर्गों के लोग—सब 'बिज़ी'—सब खोये हुये । कुछ दफ्तरों में काम करने वाले बाबू, कुछ स्वस्थ और साफ कपड़े पहने हुये युवक, कुछ दबे हुये—डरे हुये—हारे हुए मगर दिल में एक आशा लिये हुये, कुछ मैले-कुचैले कपड़े पहिने हुये पन्द्रह-सोलह साल के लड़के—'डेस्परेट'—घर से भागे हुये—चेहरे पर कोई निराशा नहीं—कोई चिन्ता नहीं, जो सेव-चिवड़ा बेच सकते थे,

टैक्सी के 'क्लीनर' हो सकते थे, फिल्म के हीरो या डाइरेक्टर बन सकते थे या कुछ भी न सही तो जेब काटना, उठाईगीरी या जेल — कोई चिन्ता नहीं—फिर और बड़े अपराध...

गेट पर टिकट देकर विवेक मलाद स्टेशन के बाहर निकला। दोपहर के बारह बज गये थे और हल्की सी भूख लगी थी—भूख—परिस्थिति से उदासीन पेट की अनन्त हविस। साधन हों या न हों मगर भूख अवश्य !

दो आने की 'स्पेशल चाय' और दो आने की दो प्लेट भजिया (पकौड़ी) खा कर विवेक बाहर निकला! बाहर नीले आकाश से बरसती हुई धूप, नीची पटी हुई दूकानें और मकान। कोई विशेष भीड़ नहीं—एक शांति—जैसे दूकानों में बैठे हुये, सड़क पर चलते हुये व्यक्तियों के चेहरे कुछ अधिक साफ़ दिखाई पड़ रहे थे। इन चेहरों पर कोई हविस या पागलपन नहीं था, केवल भिन्न मानवी भावनायें—दुर्बल—नीची—कोई आदर्श नहीं, जो गलती भी कर सकते थे, प्यार भी कर सकते थे, घृणा भी कर सकते थे, धोखा भी दे सकते थे—किसी विशेष कारण नहीं—अपने या अपने परिवार के लिये या किसी ऐसे कारण जिसका कोई कारण न हो। आत्मा और हृदय की पावन भावनाओं को गंदा कर देने वाला संघर्ष—

—विवेक चल पड़ा दिशाहीन—उद्देश्यहीन! मलाद तो आ गया था, फिर क्या ? क्या केवल चलते रहना महत्वपूर्ण है और सफलताएँ या असफलताएँ हैं केवल राह में संयोग से मिलने वाली वस्तुएँ ? तो फिर इनका महत्त्व क्या ?

चौराहे पर दाहिने हाथ को एक पान-सिगरेट की दूकान थी—विवेक उसी तरफ चला गया—

'एक सिगरेट !'

'कौन सी बाबू !'

'सिज़र्स !'

'यह लीजिये...'

पीतल से मढ़े हुए तख्ते पर पैसे रखकर विवेक ने सिगरेट जला ली।

'बाबू जी ?'

'हूँ !'

'माफ़' कीजियेगा, आप हमारी तरफ़ के जान पड़ते हैं !'

विवेक ने पान वाले की तरफ़ देखा—

'मैं उन्नाव का रहने वाला हूँ, बाबू जी। आप कहाँ के हैं ?'

'लखनऊ का !'

'यहाँ फ़िल्मों में काम करने आए हैं ?'

'हूँ—नहीं—नहीं !'

'—झूठ !'

'अच्छा, घूमने या काम की तलाश है ?'

'यूँ ही !'

'रह कहाँ रहे हैं ?'

'एक होटल में !'

'बड़ा मँहगा होगा ! ख़ैर, वैसे आपके लिए तो नहीं !'

पता नहीं क्यों विवेक को उससे बात करने में बड़ा आनन्द आ रहा था ! पाँच दिन बम्बई में और आज वास्तव में कोई

उससे बात कर रहा था ! इतना बड़ा नगर और इतना गहरा और विशाल अकेलापन—

'नहीं—भाई, बहुत महँगा है। बात यह है...'

'तो बाबू, यहीं आ जाओ न ?'

'धन्यवाद, जगह मिल सकेगी सस्ती कोई ?'

'अभी तो कोई खोली निगाह में नहीं है लेकिन मेरा एक मामा है, उसके यहाँ ठहर सकते हैं आप !'

शाम को छः बजे विवेक दिन में दूसरी बार मलाद स्टेशन पर उतरा—अपने सामान के साथ ! रास्ते में उसे चर्चगेट से मलाद की छोटी सी यात्रा भर में बहुत अच्छा लगा था। एक मुक्ति सी शहर की दम घोटने वाली गति से—उफ़—उस कमरे से—उस तंग बदबूदार गली से—हविस के उस रेले से—खिड़की में रेकॉर्ड बजाने वाली उस छोकरी से—

—केवल एक चीज़ से मुक्ति नहीं—संघर्ष से नहीं, चिन्ताओं से नहीं—

पिता जी—नीरा—कर्ज—शशि—नीरा—नीरा...

ताँगे पर सामान रखाकर विवेक पान वाले की दूकान की तरफ़ चल दिया—

'आ गए बाबू जी। एक मिनट रुकिये, अभी चलता हूँ आप के साथ !'

खड़े हुये गाहक को विदा करके और पड़ोस की दूकान के मालिक के लड़के को दूकान सहेज कर पान वाला विवेक के साथ हो लिया !

'चलो ईदू—दाएँ बाजू से। थोड़ी दूर है बाबू जी !'

दाहिने हाथ को मुड़ कर ताँगा चल दिया। कुछ दूकानों और बङ्गलों और मकानों को छोड़ कर ताँगा पान वाले के आदेश के अनुसार रुक गया।

'यह है—बाबू जी—यह जगह। ईंदू, बाबू जी का सामान उतारो!...मामा—मामा...'

एक बड़ा सा टीन की छत का 'शेड', सामने-सामने से खुला हुआ, बाँए हाथ की तरफ लकड़ी के तख्तों की दीवाल के पास मेज़नुमा सिलाई की मशीन चलाता हुआ एक दर्ज़ी—शेप स्थान खाली। बस एक छोटी सी बान की चारपाई। सामने थी एक 'काउन्टर' जैसा, जिस पर दूध के बर्तन और बिल्कुल दाहिने हाथ को लकड़ी के तख्तों की एक कोठरी जिसकी आधी खुली किवाड़ों में से धुँआ निकल रहा था...

'क्या है कन्हई...'

सफ़ेद बाल, मुँह पर पसीना। नंगे बदन पर एक जनेऊ और धोती पहने कन्हई के मामा बाहर निकले।

'खाना बन रहा था, मामा! हाँ—मामा, यह एक बाबू हैं अपनी तरफ के। जगह की तंगी थी सो मैंने कह दिया कि यहाँ तुम्हारे पास रह लें—धीरे धीरे खोली ढूँढ़ लेंगे--'

'मामा' ने विवेक की तरफ देखा। 'नमस्ते बाबू जी। आइये—आइये, बड़ा अच्छा किया कन्हई ने जो आप को यहाँ ले आया। इस साले शहर में पैर धरने की जगह नहीं मिलती। कन्हई! बाबू जी का सामान रखा दे—और बाबू जी फिर अपनी तरफ के लोग...

विवेक ने ताँगे वाले को पैसे देकर विदा किया। कन्हई भी

विवेक और अपने मामा से विदा माँग कर चला गया—दूकान अकेली थी।

सामान टीन के 'शेड' में रखा दिया गया था, ढङ्ग से। कन्हई के मामा—पण्डित जी—से थोड़ा पानी लेकर विवेक ने मुँह हाथ धोया। पण्डित जी आज्ञा माँग कर खाना पकाने चले गये, यह कहकर, 'आप बाहर जायें बाबू जी तो बता कर जाइयेगा!' हाथ-मुँह धोकर, सिगरेट जला कर विवेक ने थोड़ा बाहर को खटोला खींच लिया और बैठ गया। लालटेन के धीमे प्रकाश में दर्जी सिलाई किये जा रहा था और खच-खच कर के उसकी मशीन चली जा रही थी। पण्डित जी के चौके की अधखुली किवाड़ में से धुआँ धीरे-धीरे बाहर निकल रहा था। सड़क पर अन्धेरा छा गया था—कभी कोई गाड़ी या मोटर निकल जाती थी। वैसे पूर्ण शाँति थी, एक साधारण छोटे से कस्बे का सा वातावरण! विवेक सोच रहा था—

—यह जो अपने नहीं हैं, इनमें कितनी आत्मीयता है। शहर के निष्ठुर, क्रूर और कोलाहलपूर्ण वातावरण मुक्त से करके इन लोगों ने शरण दी मुझे। क्यों है इन्हें मुझसे यह लगाव—स्नेह? गिरने—चोट खाने—मरने दे सकते थे यह मुझे। कुछ इनकी हानि तो नहीं।। कुछ अन्तर तो पड़ता नहीं। फिर इन्होंने मुझे क्यों पनाह दी? किसी लाभ के कारण नहीं—निःस्वार्थ। मेरे ऊपर यह दया करना इनके लिये शायद कोई विशेष या महत्वपूर्ण बात नहीं है—एक स्वभाव। व्यक्ति में ऐसा स्वभाव होता है।? व्यक्ति में ऐसा स्वभाव होता है। परन्तु तभी ऐसा होता है जब व्यक्ति केवल व्यक्ति होता है, जब उस पर आवरण नहीं चढ़ा होता—नकली हविस का भूत सवार नहीं होता—जब उसके तन से वस्त्र और

मुह से कौर छीन कर उसे हिंसक, नीच, पतित, पागल बनने को मजबूर नहीं कर दिया जाता लेकिन ऐसा होता नहीं है। होता तो यह है कि व्यक्ति को उस वास्तविक स्वर्ग से—जहां प्रेम पर प्रतिबन्ध नहीं होता, सत्य पर पहरा नहीं होता, जहां हर घर में सम्पन्नता का दीप जलता है, जहां सूर्य की कुन्दन जैसी दमक पर बादल का कोई टुकड़ा धब्बा बन कर नहीं छाता, जहां चांदनी मदहोश होकर निखरती है, अनाज की बालियां सितारों के साथ मिल कर गीत गा उठती हैं, जहां वेदना नहीं होती, चिन्ताएँ नहीं होतीं, निराशा और थकान नहीं होती—ऐसे स्वर्ग से निकाल कर नरक में डाल दिया जाता है और जो कुछ वह खो देता है उसकी कमी उसकी आत्मा में घाव बन जाती है—घाव गहरा होता जाता है और प्रयत्न किया जाता है कि इसे भर दिया जाय धन से, सफलता से, रेशम और बङ्गले और मोटर से या इससे भी नहीं तो शांर-गुल से, आंसुओं से, पीड़ा से, हविस से, निराशा से और घाव और गहरा होता जाता है—और गहरा होता जाता है...

...हां, घाव गहरा होता जाता है...

दूर मुझसे शशि—पिता जी—नीरा—कर्ज—क्षय—चिन्ताएँ—सब कुछ जो मेरा है—इसलिये मैं। क्या यही सब हूँ मैं और क्या इसीलिये यह सब, दूर होते हुये भी, मेरे बहुत निकट हैं? हां, यही सब तो हूँ मैं—अन्तिम सांस तक—इस लिये अन्तिम सांस तक संघर्ष—चोट खाना—गिरना—चोट मारना—गिराना—संघर्ष—असफल या सफल और इसलिये फिर भी असफल—नीरा! कैसी होगी नीरा इस समय? कैसी होगी इस समय उसकी तबियत—

—सूखे हुये बाल, माथे पर ढूबा हुआ चाँद—चारपाई से लगी हुई—बड़ी-बड़ी आँखों में एक अस्वाभाविक चमक—

—नीरा—एक कै खून की—ज़मीन पर—चादर के कोने पर। धब्बे लाल रक्त के—डूबती हुई ज़िन्दगी के—

—विवेक! आह! विवेक! क्या—क्या मैं उन्हें एक बार भी देख सकूँगी—विवेक—लेकिन वह मुझसे दूर हैं क्या? नहीं तो। बिल्कुल—बिल्कुल निकट। लेकिन फिर भी—फिर भी क्या मैं देख सकूँगी एक बार उन्हें—केवल एक बार...

आँखें गीली हो गईं, आँसू छूट पड़े! शिथिल हाथों को उठाकर—आँसू की एक बूँद पोंछ कर, नीरा ने उसे चूम लिया! आँसू—उसके प्यार के फूल जिन्हें चूम कर विवेक ने पावन बना दिया था...

...नीरा, क्षय, शशि, पिता जी, कर्ज! क्या मैं कर सकूँगा इनके लिये कुछ? कर सकूँगा? नहीं नहीं! यह भ्रम क्यों? यह अविश्वास कैसा? मुझे करना ही है—किसी—किसी भी तरह करना है—अवश्य करना है...

—विवेक उठकर सतर खड़ा हो गया। कुछ ऐसी मनोस्थिति में जब व्यक्ति तन कर खड़ा होता है तो लगता है कि पहाड़ भी पस्त होकर उसके कदम चूमेंगे लेकिन संघर्ष की लपटें जला देती है उस हौसले के...

—विवेक उठकर खड़ा हो गया और चरण उठ गये—न जाने क्यों?

'क्यों, बाबू जी, कहीं जा रहे हैं?'

कुछ सम्हल कर विवेक ने उत्तर दिया—'नहीं, हाँ—यह—मैं सोच रहा था कि कुछ देर को बाज़ार हो आऊँ।'

'जाइयेगा, लेकिन पहले खाना तो खा लीजिये?'

पण्डित जी की ममतामय आलोचना विवेक को [illegible] वर्तमान मे—'नहीं, आपने कष्ट किया। मैं तो बाहर [illegible] का आदी हूँ—यह...'

'यह नहीं होगा बाबू कि मेहमान को हम बाहर [illegible] हैं—'

विवेक और पण्डित जी चौके में चले गये—[illegible] और गाढ़ी हो गई।

४

रात...

...सुनसान सड़क पर चलते हुए पैर—कोई शब्द नहीं, केवल सम्पूर्ण नीरवता, वह भी सम्पूर्ण नहीं—कुछ नहीं सम्पूर्ण—कुछ सम्पूर्ण हो सकता है ? हर वस्तु में—हर अनुभूति में कुछ एक अधूरा सा पन...

...सुनसान सड़क पर चलते हुये पैर—एक आहट—जैसे चट्टान के सीने को कोई तोड़ रहा हो आँसुओं से । शिथिल चेतना पर प्रहार—पर प्रहार—अनवरत; धोता हुआ इसको सागर की लहरों का उन्मादपूर्ण गर्जन, उफान खाकर मैरीन ड्राइव के ऊँचे पुश्ते पर अपनी छाती फोड़ता हुआ—फिर नीरवता—अपूर्ण—चलने की आहट—नेपथ्य में शोर लहरों का—कभी नेपथ्य में क़दमों की आहट—कभी नेपथ्य में नीरवता—

—अन्तर्मन में लहरों की तरह टूटती हुई स्मृतियाँ...

—नीरा ।

—पिता जी ।

—व्यय ।

—कर्ज ।

—शशि।
—नीरा।
—नीरा।
—संघर्ष, संघर्ष, संघर्ष......

श्री ज्ञान सूरी के यहाँ से विवेक लौट रहा था। ज्ञान सूरी 'प्रोड्यूसर' थे। न जाने क्यों—कैसे विवेक टकरा गया था ज्ञान सूरी से और आज, तीन हफ्ते चक्कर काटने के बाद सूरी साहब ने विवेक को बुलाया था 'बातें' करने के लिये—रात को साढ़े बारह का 'एप्वाइन्टमेंट' था।

—तो आप किस सिलसिले मे मिलना चाहते थे। मुझसे ?

—जी; यही। यही कि मैंने सुना था कि आप कोई नया फिल्म बनाने जा रहे हैं।

—नहीं, अभी तो ऐसी कोई बात नहीं है; यूँ इरादा तो है ही। आप किस काम...

—यह, आप को मि० मेहता ने शायद कुछ बताया होगा...

—जी याद आया—'स्टोरी' के बारे में... (फिर कुछ मौन) आप ने पहले कभी फिल्म के लिये लिखा है कुछ।

—जी नहीं।

—तब तो साहब ज़रा मुश्किल है। आप शायद जानते होंगे कि फिल्म स्टोरी लिखना काफ़ी 'टेक्नीकल' और 'स्पेशल' काम है।

(पाँव के नीचे से धरती खिसकने लगी विवेक के—उफ़—यह क्या ? क्या निराशा ? क्या निराशा ? पिता जी—कर्ज़—

नीरा...सहारा, आशा का, छूट रहा है और पैर दलदल में घुसने लगे हैं...)

—जी, आप ठीक कह रहे हैं, वैसे कुछ उपन्यास और कहानियाँ लिख चुका हूँ और इस समय परिस्थिति कुछ ऐसी है...

—हूँ।

फिर एक दीर्घ मौन। आगे को खिसका हुआ विवेक बिल्कुल सोफा के किनारे पर बैठा था; साँस रुकी हुयी थी—

—आप ठीक कहते हैं लेकिन बात यह है कि 'इन्डस्टरी' में नाम की 'वैल्यू' होती है 'डिस्ट्रीब्यूटर' नाम पर पैसा देता है।

—विवेक चुप।

—आप के पास कोई 'सबजेक्ट' है?

—जी।

—कोई स्टोरी 'रेडी' है?

—जी हाँ...

—तो सुनाइए।

—अभी?

—हाँ हाँ (सिगार सुलगाते हुये)

विवेक हैरान रह गया। आज तक यूँ इस तरह उसने कभी किसी को कहानी नहीं सुनायी थी। और फिर उस प्रोड्यूसर का रुख। जैसे कहानी न हुयी रुपये की खनकार पर नाचने वाली नर्तकी का नृत्य हो गया। कला का अपमान—कला का अपमान, कला जिसे उसने अपना खून दिया था—अपना जीवन दिया था। कनपटी की नसें तन कर जोर से खट-खट करने लगीं। मगर पिता जी—नीरा—कर्ज—क्षय—शशि—नीरा...

सोफे पर बैठे हुये मि० सूरी—सिगार के सुराभदार धुएँ के पीछे आंख मूँद कर प्रतीक्षा करते हुये—गले में जैसे लोहे का एक खुरदुरा टुकड़ा अटक गया—

...जी यह इस तरह है...

हिचकिचाते, अटकते—किसी तरह कहानी खत्म हुई। बीच-बीच में अक्सर विवेक रुक जाता—माथे पर पसीने की बूँदें उभर आतीं और वह घबरा कर देखता मि० सूरी के चेहरे की तरफ यह देखने के लिये कि कहानी का कैसा प्रभाव पड़ रहा है उनके ऊपर; लेकिन वहाँ बन्द आँखें, सिगार की नोक पर लम्बी होती हुई राख की तहें और भाव कोई नहीं उस निश्चिन्त मुद्रा पर। काश, काश उनके चेहरे पर मोहन की मुस्कान होती या—या न भी सही तो अस्वीकृति की मुद्रा परन्तु चेहरा बिलकुल भावहीन था—उफ़ ! यह घुटन—यह दुविधा—यह सब कुछ अनिश्चित होना। जी में आता था कि जहाँ कहानी है वहीं उसका अन्त कर दें और मेज पर रक्खा हुआ फूलदान मि० सूरी के सिर पर मार दे—सिगार की जमा होती हुयी राख तोड़ने के लिये—चेहरे की यह भावहीनता खत्म करने के लिये—परन्तु—

—पिता जी, नौरा, फर्स्ट क्लास...तो कहानी समाप्त हो गयी किसी तरह। मि० सूरी अब भी मौन थे—विवेक ने जेब से रुमाल निकाला पसीना पोंछने के लिये; लेकिन उसके दोनों हाथ दुविधावश रूमाल में उलझ गये और माथे तक न पहुँच सके—

—हूँ। Geeta Bl...

—जी।

—स्टोरी अच्छी है आपकी लेकिन You see we are

businessmen यह 'लिटरेचर' का अपने से ज्यादा 'कनेक्शन' नहीं—मेरी 'ओपीनियन' में यह 'सबजेक्ट' 'फ़िट' नहीं है...

जैसे पहाड़ टूट पड़ा विवेक के सिर पर, यह आशा भी...

—आप...आप ठीक कहते हैं सूरी साहब, मैं दूसरी कहानी दे सकता हूँ—थोड़ा मौका और दीजिये—मेरा सब कुछ—सब कुछ इस पर निर्भर करता है—मैं...

—देखिये मि० विवेक स्टोरी हम आप से नहीं ले सकेंगे...

—लेकिन मैं आप को...

फिर जम्हाई लेकर कलाई पर बँधी हुई क़ीमती 'रिस्टवाच' की तरफ देखते हुये और एक खुली हुई जम्हाई : अच्छा, अब काफी 'लेट' हो गया है !

—क्या फिर हाजिर हो सकता हूँ जैसे आशा की अन्तिम किरण डूब रही हो !

—हाँ ! फिर कभी ।

रात...

...सुनसान सड़क पर चलते हुए पैर—कोई शब्द नहीं, केवल सम्पूर्ण नीरवता—वह भी सम्पूर्ण नहीं । जब अन्तर्मन का तूफ़ान डूब जाय चेतना में तो मैरीन ड्राइव के पुश्ते के सीने पर टूटती हुई लहरों का क्रन्दन—या दाहिने हाथ की तरफ बनी हुयी अट्टालिकाओं की सोती हुई दीवारों को चूमती हुई बेशर्म हवा—विवेक के उड़ते हुये बालों में खारापन छोड़ती हुई सागर की बारीक फुहार—दूर तक रोते हुये आकाश के नीचे जलती हुई सड़क की बत्तियों की पीलाहट—दूर तक नम सड़क पर उस

पीलाहट की परछाइयाँ—दूर तक एकाकीपन जिसके पैने नाखून चेतना को धीरे धीरे दाब रहे हैं—कभी किसी मोटर का गुज़र जाना और उसके 'साइलेन्सर' से निकलता हुआ धुँआ, अँगड़ाई लेता हुआ धुँधलके में—और भूख—और अकेलापन—और निराशा और—

—पिता जी।

—नीरा।

—क्षय।

—कर्ज़।

—नीरा।

—और जिन्दगी की टूटती हुई कड़ियाँ।

—और भूख।

जीवन का यह भयानक—यह अनन्त संघर्ष—क्यों—कैसे—किस लिए? हाँ, किस लिये? खामोश आसमान के सीने में एक लम्बी आह—

—सागर के जल का खारापन, जीभ की नोक पर बहुत तीखा लग रहा है—पेट खाली है—जी मितला रहा है—कमीज़ की जेब में पड़ी हुई सिगरेट पसीने और सागर के जल की फुहार से बिल्कुल भीग चुकी है और जल नहीं सकती। दाहिने हाथ की तरफ कोठियाँ हैं—शानदार—दौलत के मन्दिर—सफलता के प्रतीक—सफलता के—किसकी सफलता के—कैसी सफलता के—क्या है सफलता?

भूख के तेज़ नाखूनों ने पेट के अन्दर को पूरी तरह खरोंच दिया है—वेदना—आह—वेदना ने मस्तिष्क को उमेठ कर रख डाला है—

—मैं, लेखक, असफल, मेरा सब कुछ—एक नहीं—अनेक-अनेक और सब अपूर्ण और अपूर्ण कामनाएँ, विचार, दृष्टि-कोण—आग का एक-एक शोला अलग-अलग, मिलकर लपटों में फूट पड़ने वाला नहीं—अलग—जिस पर एकाकीपन राख बनकर चढ़ने लगता है लेकिन जो बुझता नहीं है, सुलगता रहता है और कितनी पीड़ा होती है उस सुलगने में। शरीर और मन के हर भिन्न अंश की हर भिन्न अभिलाषा—उनकी कशमकश—तोड़ती हुई अन्तर को और उसको भी जो बाहर है—यह सब और—

—नीरा।

—क्षय।

—कर्ज़।

—पिता जी।

—नीरा।

प्रहार, एक नहीं—हज़ार नहीं—अनगिनत। मन की एक अवस्था जो स्वाभाविक नहीं है फिर भी स्वाभाविक है और इसलिये शायद तोड़ती भी नहीं! क्यों नहीं फूट कर बिखर जाता व्यक्ति जब चट्टानें टूट कर गिरती हैं उस पर—गरजते हुये सागर में छलाँग क्यों नहीं मार देता—या फिर गला क्यों नहीं घोट देता हर एक का? क्या शिथिलता? या जीवन का बलवान आक-र्षण, या वेदना में, मौत में, घुटन में रस लेने की आदत। एक अस्वस्थ और 'परवर्ट' मनोवृत्ति जब कीचड़ में सिर डाल देने को जी करता है—जब वासना की दलदल से शरीर सिहर उठता है—जब पसीना चाटने की तबियत होती है—

—यह सब और फिर यह कि यह सब समझ में क्यों नहीं आता—कोई सीमा है ? कोई सीमा है ??

—आकाशों के पार बसने वाले बेदर्द और खामोश देवताओं, कोई सीमा है ? धरती पर खारे आँसू बहाने वाले मजबूर इन्सानो, कोई सीमा है ? दौलत के सुनहरे खण्डहरों में बसने वाले दैत्यों, कोई सीमा है ? अँधेरी रात के स्याह सीने में टिमटिमाने वाले कमजोर सितारों, कोई सीमा है ? इस मौत सी जिन्दगी जीने वाले, कोई सीमा है ? उस मौत से नफरत करने वालो, जो जिन्दगी को जीना समझते हैं, कोई सीमा है ? इन्सान के कदमों को काले विष के पेंच में कसे हुए अजगरों, कोई सीमा है ?

मैं थूकता हूँ तुम पर जो समझते हो कि तुमने जिन्दगी बनाई है मगर तुम पाषाण हो—बेकार और बेमाने। मैं थूकता हूँ तुम पर जो मौत को जिन्दगी समझ कर मरते भी तो नहीं। मैं थूकता हूँ तुम पर जो अँधेरी रातों के धुन्ध को फाड़कर नये सूरज खींच कर बाहर नहीं निकाल सकते। मैं श्राप देता हूँ—अपने मन के पूरे कड़ुवेपन से और अन्तिम साँस से श्राप देता हूँ वेदना को, कमजोरी को, उस सब को जो है।

विश्वास की सुनहरी प्रतिमाएँ टूट रही हैं—मान्यताओं की मीनारें काँप कर ढह रही हैं—कितनी बड़ी क्रांति है जिसका पूरा अन्दाज नहीं है दुनिया को—कितनी बड़ी और भयानक पीड़ा है जो मापी नहीं जा सकती।

वेदना और पीड़ा—पीड़ा और वेदना—एक भयानक अनन्तता—एक अनन्त तांडव—जिसकी हर लय बाँधे हुए है जीवन के हर उठान को—इसलिये वेदना और पीड़ा—अनादि—

सड़क अनन्त—रात अनन्त—अन्धकार अनन्त—आशायें—पीड़ायें—वेदनायें—अनन्त—यह निर्लज्ज जीवन अनन्त और इसके साथ जो कुछ बँधा हुआ है वह भी अनन्त। कहीं कोई छूट नहीं—अन्तर नहीं—विश्राम नहीं...

आकाश में घने बादल—

—सागर पीछे छूट चुका है, अब सड़क के दोनों ओर ऊँची-नीची इमारतें—दो मञ्जिल—चार मंजिल—छः मंजिल—दूकानें—अधिकतर बन्द। सड़कों पर उतना कोलाहल नहीं—उतनी भीड़ नहीं। सामने जाकर एक बहुत बड़ा सा चौराहा और कई सड़कें—

..."क्यों, भाई, आप बता सकते हैं कि दादर को कौन सी सड़क जाती है?"

विवेक को जुहू जाना है। जुहू के लिये 'बसें' जाती हैं, ट्रेनें जाती हैं लेकिन जाती हैं केवल तभी जब जेब में आठ आने पैसे हों और जब न हों तब नहीं जाती हैं। क्या कोई ऐसा है जिसके पास आठ आने भी न हों रेल पर जाने के लिये? नहीं, इस इतने बड़े शहर में कोई भी ऐसा नहीं हो सकता? यह एक मजाक है? इतने भी पैसे भी होना एक मजाक है—बहुत बड़ा मजाक है—हँसी आने की बात है—क़हक़हे लगाने की बात है—विवेक के अन्तर हंसी का एक फव्वारा छूट पड़ा और वह बिलख पड़ा। रेल जाने के लिए बनी है—रेल पर बैठने से समय बचता है—पाँव नहीं दुखते हैं—रेल का आविष्कार किया गया है सुविधा के लिए—शहर से दूर 'सबर्ब' बनाये गए हैं रेल का प्रयोग करने के लिये—और इसके लिए साधन चाहिये—लेकिन साधन नहीं हैं—क्यों नहीं हैं? क्यों नहीं हैं? आठ आने भी नहीं हैं? तुम

गदहे हो ! धिक्कार है तुम्हें ! कूद क्यों नहीं पड़े समुद्र में—लेट क्यों नहीं जाते रेल के पहियों के नीचे ? क्या तुम्हें अधिकार है जीने का ? नहीं है—नहीं है—तो फिर......

...नीरा।

...क्षय।

...पिता जी।

...कर्ज।

...नीरा।

जिस व्यक्ति से विवेक ने दादर का रास्ता पूछा वह आँखें फाड़कर विवेक की तरफ देखने लगा—

"अरे साहब—दादर ? वह सामने से ट्राम जाती है, उसी पर बैठ जाइए न।"

आज तक बम्बई के इतिहास में किसी ने किसी से दादर का पता नहीं पूछा होगा। 'ईडियट', ट्राम जाती है। तुम बैठ जाओ जाकर ट्राम में ! बड़ा आया है...ट्राम के पैसे तेरा बाप देगा ?

....'धन्यवाद।'

कोई भी सड़क जाती होगी—दादर ही क्यों—जुहू ही क्यों—कहीं भी ! और कहीं यह सड़क जाती अवश्य होगी—

—आसमान में से बहुत सा पानी एक साथ बरस पड़ा—बाल भीग कर सिर से चिपक गए—कमीज शरीर से चिपक गई—जूतों में पानी भर गया—घड़घड़ाकर ट्राम चल पड़ी—दादर—

—शान सूरी, फिल्म प्रड्यूसर, झाग की तरह मुलायम सोफे,

कालीन जिसमें पैर धँस जायँ—कहानी—मैं लेखक हूँ—मैं कला का पुजारी हूँ—मैंने अपना खून साहित्य को दिया है—नीरा बीमार है—सूरी साहब—उसे तपेदिक हो गई है—उसका 'सेनिटोरियम' में भेजा जाना जरूरी है—वर्ना वह मर जायगी—वर्ना वह मर जायगी और मैं उससे प्यार करता हूँ और वह मर जायगी—सूरी साहब—हम गरीब हैं—इसलिये वह मर जायगी—मुझे रुपया चाहिये—सूरी साहब—मेरा बाप बूढ़ा है—भूखा है—कर्जदार है—कमज़ोर है—और मैं लेखक हूँ—मैं कहानी लिखता हूँ—मैं साहित्य की पूजा करता हूँ—क्या आप कहानी खरीदेंगे—मैं साहित्य बेचने आया हूँ—मैं सरस्वती को प्यार करता हूँ और मैं सरस्वती को बेचना चाहता हूँ। 'मगर मुझे सरस्वती नहीं चाहिये, मुझे वेश्या चाहिये!'

सड़क के दोनों तरफ़ जो ईरानी होटल खुले हैं उनमें कबाब के भुनने की खुशबू आ रही है। वहाँ बत्तियाँ जल रही हैं, वहाँ लोग वर्षा से सुरक्षित बैठे हैं, वहाँ लोग हँस रहे हैं, बातें कर रहे हैं—खुश हैं—चाय से धुँआ उठ रहा है—

मैं चाय पी सकता हूँ—कबाब मुझे बहुत अच्छा लगता है—मैं हँस भी सकता हूँ—मैं बातें भी कर सकता हूँ—क्या मैं तुम्हें हँस कर दिखाऊँ—मगर मैं भूखा हूँ—क्या तुम मुझे एक घूँट चाय पिला सकते हो? देखो मेरी कमीज बिल्कुल भीग चुकी है और हवा ठंडी चल रही है। देखो मुझे एक कबाब और रोटी दे दो, मैंने सुबह से कुछ नहीं खाया है और मैं गिर पड़ूँगा अगर मैंने कुछ न खाया—

—हिश्त! गिर पड़ोगे? अभी से, अभी नीरा बीमार है—बहुत बीमार है—अभी पिता जी पर बहुत सा कर्ज़ है—अभी तुम

गिरना चाहो फिर भी नहीं गिर सकते—तुम इसलिए नहीं गिर सकते क्योंकि अभी तुम्हें चलते रहना है—अभी तुम बारह मील पैदल चले हो? मगर आज तुम चल रहे हो—भूखे—और तुम्हें थकान नहीं मालूम पड़ रही है क्योंकि तुम्हारे पैर थक कर सुन्न पड़ गए हैं—और इसलिए तुम चल रहे हो क्योंकि तुम्हें चलते रहना है—

—और इसलिये तुम चलते रहो, चलते रहो, चलते रहो—

५

कॉफी हाउस में खचाखच भीड़ थी। हर मेज़ के चारों तरफ लोग बैठे हुये थे, केवल कोने की एक मेज़ खाली पड़ी हुई थी—अः—खाली तो नहीं पड़ी थी—मेज़ पर दो पैर रखे हुये थे और कुर्सी पर एक धड़। पास की तीनों कुर्सियाँ खाली थीं—बैठने वाले का चेहरा क़िसी मैगज़ीन से ढँका हुआ था।

कॉफी हाउस—

—वहाँ लखनऊ में विवेक अक्सर काफी हाउस में बैठा करता था—दोस्तों के साथ। गर्म बातें होती थीं—साहित्य पर—राजनीति पर—बुनियादी मसलों पर, मार्क्स् और इलियट, दॉस्तवस्की, शॉ, पन्त, अज्ञेय और मायकाव्सकी और बॉदेलेयर पर बहसें होती थीं और हर एक की धज्जियाँ बखेरी जाती थीं—काफी के गर्म घूँट होते थे और सिगरेट का धुँआ—बुद्धिवादियों की वे पैसे की ऐयाशी! काफ़ी हाउस—ज़िन्दगी का बुलबुला—शोख, उद्दण्ड; फूट पड़ने वाला लेकिन पल भर को तो सूरज की शराब से मदहोश—खेलता-इठलाता हुआ। किसी की महानता स्वीकार करना पाप था—छोटे-छोटे मगर बलवान अहम्—जिन्हें मालूम था कि उन्हें पैसा नहीं मिलेगा—शोहरत नहीं मिलेगी मगर फिर भी जिनका हर अङ्ग—चेतना का हर रेशा भीगा हुआ—डूबा

हुआ था जिन्दगी में—उमङ्ग में—टूटती हुई—मरती हुई उमङ्ग में। चीजों में दोष निकालते—नए ख्वाब देखते—नए विचार रचाते—कहानी लिखते—उपन्यास लिखते—तस्वीरें बनाते—या कुछ भी न करते तो सोचते-सोचते—केवल सोचते—जलते हुये 'मैगनेशीयम' के तीखे नीले आलोक की तरह जो पलक मारते राख बन जायगा! बर्बादी के माहौल में जिन्दगी कितनी ज़ोर से चटख उठती है अपनी पूरी शक्तियाँ समेट कर बर्बाद हो जाने के लिए क्योंकि शायद मौत को जिन्दगी का पूरा बलिदान चाहिये; फूल तब सब से ज्यादा शोख और बेक़रार और हसीन लगता है जब वह बस मुरझा कर झड़ने वाला होता है—उत्तेजना में चेहरा अस्वाभाविक रूप से दमदमा उठता है हालांकि उसके ठीक बाद मृत्यु होती है—शिथिलता होती है। बस वैसे ही उन नौजवानों में इस युग की खत्म होती हुई जिन्दगी का सम्पूर्ण और अन्तिम उल्लास था, चमक थी, प्रतिभा थी—आग के आखिरी अङ्गारे—जिन्दगी का अन्तिम और सबसे शानदार और जगमगाता हुआ बलिदान जिससे कि सम्पूर्ण मृत्यु आ सके और फिर, जिन्दगी... वे युवक—आग के फूल—क़हवा पीते—जिन्दगी की अन्तिम उमङ्ग से बलबलाते—युग की—साहित्य की—राजनीति की समस्याओं पर चीख-चीख कर बहसें करते हुये! कुछ एक अजीब दर्द भरी और उदास सी शान थी उनमें—जैसे जिन्दगी की सबसे अन्तिम और बलवान अभिलाषा थी—उनमें, अपने अस्तित्व को प्रगट करने की—अन्धेरे के चिराग़ जो चारों तरफ फैले हुये अन्धकार के कारण और ज्यादा तेज और चमकदार मालूम पड़ते हैं—शानदार विश्वास की आखिरी लौ जिसमें बुझने के पहले की कँपकँपाहट लपकने लगी है—वीराने के खँडहर—मग्न, उजड़े हुये जिन पर आँसू बरसा देने को जी करता है। लेकिन बर्बादी के इस

तांडव के बीच में भग्न, टूटी हुई मीनार में कितनी मजबूती, कितना विश्वास मालूम होता है जैसे कि खँडहर में से उभर कर फिर से जिन्दा होने की शक्ति है उनमें—कितनी शान – कितना अभिमान होता है उनमें—ऐसे थे युवक और उनमें से एक विवेक भी –

—बहुत दिनों से विवेक ने कॉफ़ी नहीं पी थी। जिस माहोल में उसकी चेतना और उसके अहसास के फूल खिले और उगे थे वह जैसे उसके लिए अजनवी सा हो गया था – वह सिगरेट का धुँआ, वह कॉफ़ी के घूँट, वह वहसें – वह चमकदार और शानदार वहसें – यह सब कुछ जैसे उससे बहुत दूर हो गया था क्योंकि ज़िन्दगी ने, जो मौत से भी गई गुज़री थी, उसे समेट लिया था अपने साये में। साहित्य और राजनीति पर वहसें—वह सब कुछ उससे बहुत दूर हो गया था और आज एकाएक इस इतने बड़े शहर के बीच की तन्हाई में उसे आवश्यकता मालूम पड़ने लगी थी फिर कुछ उसी माहोल में डूब जाने की क्योंकि उसके अन्दर निराशा और अन्धकार का जो आकार फैल कर बढ़ने लगा था उससे उसे डर लगने लगा था।

अब तक तो उसे अवकाश मिला नहीं था ऐसा कुछ सोचने का। संघर्ष के बीच में व्यक्ति को फ़ुर्सत कहाँ होती है अपनी सफलता पर हँसने या अपनी असफलता पर रोने या उदास होने की; वह तो जब घाव में से तीर निकल जाता है तब खून निकलता है—चलते-चलते रुक जाओ तो थकान मालूम पड़ती है। और हुआ यह था कि दो महीने की भाग-दौड़ और निराशा के वाद जब एक प्रकाशक ने एक लघु-उपन्यास के लिये विवेक को तीन सौ रुपये दिये तो जैसे विवेक को खुशी भी नहीं हुई थी। न

जाने कैसे—किस तरह काटे थे विवेक ने यह दो महीने लेकिन उस दिन जब प्रकाशक ने मुस्कराते हुये विवेक के हाथ पर निहायत अहसान के साथ सौ-सौ के तीन नोट रखे थे तो वह जैसे बिल्कुल जड़ हो गया था और उन तीन नोटों को हाथ में लेकर वह बाहर सड़क पर आ गया था और चलने लगा था—यन्त्रवत्—और काफी देर के बाद उसे महसूस हुआ था कि राह चलने वाले बराबर उसकी मुट्ठी की तरफ घूर-घूर कर देख रहे हैं और उसने इन तीनों नोटों को जेब में रख लिया था।

जेब में रुपये रखते ही उसे ख्याल आया था कि हां! अब तो उसे रुपये मिल गये हैं—अब तो वह कुछ रुपये घर भेज सकता है और खत भी लिख सकता है जो कि उसने यहाँ आने से अब तक नहीं लिखा था—दो पत्र नीरा के आये थे—

—नीरा—

—'बीच' की सोई हुई रेत, कुछ दूर तक भीगी हुई आ-आ कर लौट जाने वाली लहरों से, आकाश में बादलों से छिपा हुआ चाँद—और उस धुँधलके के कारण सागर—तट पर पड़ता हुआ नारियल के वृक्षों के साये का उलझा हुआ कुहासा—साफ परछाइयाँ भी नहीं—और धाड़ें मारता हुआ समन्दर—और उस तमाम विस्तार के बीच में एक एक विवेक—लहरों के उठान के ऊपर से—रोते हुए आकाश से आती हुई नीरा की आवाज़—बादलों से ढँके हुए आकाश पर नीरा का चित्र उभर आया था—उदास—मलिन—उस चाँद की तरह जो छिपा था धुन्ध में—

—"वियोग का दुख नहीं है मुझे—मेरे प्राण - केवल इसका कि एक बुझे हुये दीप को तुमने दुलारा और वह तुम्हारे जीवन को रोशन नहीं कर सका। आखिरी लौ अब आगे-पीछे बुझ ही

जायगी लेकिन इस शरीर का मेरे निकट कोई महत्व नहीं—इसके मिट जाने का कोई दुख नहीं क्योंकि मेरे देवता—उस प्यार के अधिकार से जो तुमने मुझे दिया है मैं तुम्हें अपना बना चुकी हूँ और इसलिये मैं तुम में सदैव जीवित रहूँगी—सदैव और अपनी माँग के सिन्दूर के बल पर जो तुमने स्वप्न में मेरी माँग में भर दिया था, मैं सदैव-सदैव तुम्हारे साथ रहूँगी, तुम्हारे संघर्षों में, तुम्हारे......"

बहुत दूर से जो ऊँची-सी लहर समन्दर के सीने पर उफनती चली आ रही थी, तट पर आ कर बिखर गई। विवेक के हाथ आकाश की तरफ उठ गए बादलों पर उभरे हुये नीरा के चित्र को अपने अन्दर समेट लेने के लिये—बादल छँट गये और चाँद निकल आया। आँख से एक आँसू गिरा और तट पर पड़ी हुई एक सीप ने उसे समेट लिया—

अगले दिन सुबह विवेक ने डेढ़ सौ रुपये का मनी ऑर्डर अपने पिता के नाम भेज दिया। बोरी वन्दर के पास वाले बड़े डाकखाने से जब वह मनी-आर्डर कर के सड़क पर आया तो उसे लगा जैसे धूप बहुत तेज है—पलकें झमक सी गईं उस तेजी में। लेकिन सड़क पर वही भीड़—वही आदमियों और सवारियों का रेला—मेला—वही दूकानें—वही दफ़्तर—वही जिन्दगी की अविराम और एक सी गति। वही व्यापार जो रोज होता है वही तब भी था—कोई अन्तर नहीं—कहीं अन्तर नहीं जैसे व्यक्ति के अपने संघर्षों का—उसकी सफलताओं और असफलताओं—आशाओं और निराशाओं का जिन्दगी के इस स्थूल आकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। विवेक चलता जा रहा था—भीड़ में—हर तरफ से लोगों से दवा हुआ लेकिन एकाएक उसे एक बहुत

ज़बरदस्त अकेलापन सा महसूस हुआ—जैसे उसका अपना जो कुछ है वह उसे बहुत—बहुत दूर है—जैसे आस-पास जो कुछ है वह खोखला है—बेमाने है—क्रूर है, सहानुभूतिहीन है—बहुत भयानक है यह अकेलापन! विवेक को लगा कि जैसे वह सागर के बीच में है लेकिन लहरों से बिल्कुल अछूता—जैसे जो कुछ वह है उसका कोई सम्बन्ध नहीं है उससे जो उसके चारों तरफ़ है—यह विवेक, लेखक विवेक नहीं है; यह वह विवेक नहीं है जिसका अस्तित्व सम्बद्ध है औरों के जीवन से, जो औरों के साथ हँस सकता है, रो सकता है, उनकी पीर समझ सकता है, उनके साथ और उनके लिए लड़ सकता है, जिसकी चेतना उनके सामूहिक अहसास की आवाज़ है; यह विवेक दूसरा विवेक है, अपने दायरे में जकड़ा हुआ अपने ग़म से सताया हुआ—अकेला, मात्र अकेला, जो साथी चाहता है मगर जिसका व्यक्तित्व स्वयं अपने से दूर है। और इस अकेलेपन में बीती हुई बातें याद आती हैं जैसे इन्सान को अपने जीवन के बुनियादी अकेलेपन में याद हो उठते हैं वह स्वप्न जो कभी सच्चे थे और जो उसकी कल्पना में आते हैं रंगीन वस्त्रों से सज कर और जो छोड़ जाते हैं उसके अन्दर एक अजीब सी जिज्ञासा, चेतना, कुछ पाने, बनाने, रचाने की आकांक्षा। उसी तरह विवेक को भी इस अकेलेपन में बीती बातें याद आने लगीं: लखनऊ के वह दिन, वह रातें, कॉफ़ी हाउस, सिगरेट का धुँआ, गर्म काफ़ी के घूँट, वह साहित्य और राजनीति पर बहसें, वह उमङ्ग, वह हौसला, वह ज़िन्दगी के ख़ूबसूरत लमहे......

...और फ़्लोरा फ़ाउन्टेन से कुछ आगे बढ़ कर उसे बाएँ हाथ की एक बिल्डिंग मे कॉफ़ी की ख़ुशबू आती हुई मालूम दी, बात-चीत का शोर सुनाई दिया और ऊपर 'इण्डिया कॉफ़ी हाउस'

का बोर्ड दिखाई दिया तो वह एक बारगी चौड़ी सी किवाड़ के अन्दर घुस गया।

वही घास के से, मन्द हरे रंग की दीवालें, वही मेज़-कुर्सियों की क़तारें, वही बेंत की आरामदेह कुर्सियाँ, वही मेजें जिनके ऊपर नीचे से हरा पुता शीशा रखा है, वही कॉफ़ी के प्याले, छोटी केतलियाँ, दूधदान, शकरदान, वही नौ जवान—युवक और युवतियाँ-अधेड़, लेकिन कुछ बिल्कुल वह नहीं—कुछ ज्यादा अच्छे कपड़े पहने हुये—कुछ कम 'इन्टेलेक्चुअल'—कुछ ज्यादा प्रैक्टिकल'—कुछ ज़रूरत से ज्यादा मुस्कराहट—ढिठाई—बेशर्मी...

...फिर भी क़रीब-क़रीब सब कुछ वैसा ही और हालाँकि इनमें से एक भी व्यक्ति विवेक को नहीं जानता था, फिर भी उसे लगा जैसे वहाँ कुछ है जिससे वह परिचित है।

और पाँच मिनट खड़े रहने के बाद विवेक को यह मालूम हो सका कि कोई कुर्सी खाली नहीं है। वह दो क़तारों के बीच में बढ़ता हुआ 'हाल' के आख़ीर तक गया लेकिन कोई स्थान ख़ाली नहीं दिखाई दिया—

—हाँ! बस कोने की मेज़ लगभग ख़ाली थी लेकिन एक कुर्सी पर कोई था जिसकी टाँगें मेज़ पर फैली हुई थीं और चेहरा मैगज़ीन के पीछे छिपा हुआ था। बेकार! विवेक लौट पड़ने को हुआ...

'वापस क्यों जा रहे हैं—यह कुर्सियाँ खाली तो पड़ी हैं।'

विवेक वाक्य के बीच में ही घूम पड़ा—आवाज़ मैगज़ीन के पीछे से आ रही थी! यह तो विवेक भी देख चुका था कि कुर्सियाँ

खाली पड़ी हैं। वह यह भी जानता था कि अगर ऐसा हो तो एक कुर्सी पर बैठे हुये व्यक्ति से आज्ञा लेकर उसी 'टेबुल' पर बैठा जा सकता है लेकिन उस समय, उस मनोस्थिति में विवेक की न तो इच्छा थी और न उसकी इतनी हिम्मत थी कि वह किसी अजनबी की मेज़ पर 'एक्सक्यूज़मी' कह कर बैठ जाये। जब दिल दुखा हुआ हो तो खुल कर—अकड़ कर नहीं बैठा जाता, संकोच होता है, मार्ग में पड़े हुये पत्थर से बचकर चलने को जी करता है, अपने अन्दर सिकुड़ जाने की तबियत होती है......

...मगर मैगज़ीन के पीछे से आती हुई आवाज़ में कुछ इतना अधिकार था—इतना आकर्षण था कि विवेक को थोड़ा वापस लौट कर मेज़ पर बैठ जाना पड़ा।

फिर मौन! फिर मेज़ पर वैसे ही रखे हुये पैर—फिर चेहरे पर वही मैगज़ीन! विवेक बैठ तो गया लेकिन संकोच और दुविधा में डूबा हुआ था—बैरा पास आकर खड़ा हो गया—बड़ी विवशता से विवेक ने बैरे की तरफ़ देखा लेकिन न जाने क्यों कंठ से आवाज़ निकलने को तैयार नहीं हुई—

मेज़ पर रखे हुए पैर झटके से नीचे ज़मीन पर आ गए, मैगज़ीन उसी तरह धप् से बन्द कर के मेज़ पर रख दी गई—

'अरे खड़े-खड़े मुँह क्या ताक रहे हो; साहब के लिए एक गर्म कॉफ़ी लाओ—क्यों आप कुछ और लेंगे?'

विवेक ने केवल सिर हिला दिया। मुँह के अन्दर ही जैसे उस व्यक्ति ने, बड़बड़ाया—'नॉनसेन्स!' और फिर स्पष्ट—'एक पेयर टोस्ट और एक आमलेट और एक-एक ब्लैक कॉफ़ी!'

भूरे, घुँघराले, सूखे, उलझे हुए से बाल—गेहुँआ रङ्ग—चौड़ा

माथा—घनी भवें—बड़ी-बड़ी आँखें—गहरी—खोई हुई सी—खुली हुई मगर फिर भी ढँकी हुई सी—गालों की हड्डियाँ ज़रा उठी हुई जिनके कारण तन्दरुस्त होने के बावजूद भी गाल कुछ धँसे हुये से दिखाई पड़ते थे, एक-दो दिन की न बनी हुई, घनी दाढ़ी, सिल्क की सफ़ेद कमीज़—आधी साफ़—मिजगिली हुई, सामने के नीचे के एक बटन को छोड़ कर बाक़ी सब टूटे हुये और उसमें से नज़र आता हुआ, बालों से भरा हुआ सीना, आस्तीनें आधी चढ़ी हुईं—जेब में जहाँ कलम लगा था वहाँ स्याही का एक बड़ा और एक छोटा धब्बा, मज़बूत—गठीला शरीर—

'देखो—दोस्त! ज़रा खुल कर बैठो! इसकी नहीं ठहरी है!' वह व्यक्ति बोला और जेब से उसने 'गोल्ड-फ्लेक' का एक पैकेट निकाल कर एक सिगरेट खुद ली और दूसरी विवेक को दी।

'धन्यवाद!'

'देखो दोस्त! यह धन्यवाद की नहीं ठहरी—इस लफ्ज में समाज की मक्कारी की दुर्गन्ध आती है और इससे मुझे नफ़रत है! यह 'सॉरी' और 'थैन्क यू' का युग—ओ! डैम! जी में आता है गला घोंट दूँ......'

बैरे ने ऑर्डर की हुई चीजें मेज़ पर ला कर रख दीं! विवेक पूरी तरह से स्तम्भित था—

'बोलो, शकर कितने चम्मच पीते हो....और दूध? मैं तो शकर पीता हूँ और न दूध? माँ के दूध के अलावा मैंने आज तक दूध नहीं पिया। जानते हो माँ दूध में पानी नहीं मिलाती है और रहा शकर का—तो एक या दो चम्मच शकर से ज़िन्दगी की यह तल्ख़ी—यह कड़ुवाहट क्या ख़त्म हो सकेगी। लेकिन बात यह गलत है कि तुम बिल्कुल चुप्पी साधे बैठे हो। हाँ! समझा! हम

एक दूसरे से परिचित नहीं हैं! लेकिन तुम परिचित हो किसी से? क्या वक्त दो व्यक्तियों के सम्बन्ध को पक्का या कमजोर कर सकता है? क्या तुम मेरा नाम जान लोगे—या मैं तुम्हारा तो क्या इससे कुछ अन्तर पड़ेगा—तुम्हारा नाम मेरा नाम भी हो सकता था? फिर भी, मैं प्रकाश हूँ और तुम...?"

'विवेक!' विवेक के मुँह से निकला। इस अजीब इन्सान—प्रकाश—के सम्मोहन में डूबता जा रहा था विवेक।

'अच्छा चलो—यह बाधा भी खत्म हुई। यह बताओ विवेक कि तुम लौट क्यों रहे थे?'

'जी, यूँ ही प्रकाश जी...'

'उफ। माँ ने मेरा नाम 'प्रकाश जी' नहीं, प्रकाश रखा था और उसे बदलने का अधिकार किसी को नहीं है। और 'जी' और 'आप' से मुझे चिढ़ है। अपनी मेज पर मैंने एक अजनबी को निमन्त्रित नहीं किया था—एक मित्र को किया था।'

रफ्तार कुछ इतनी तेज थी कि विवेक का वह अकेलापन तेजी से पीछे छूटता जा रहा था—उसके बाद आया था शून्य और फिर उस शून्य में इस...इस प्रकाश के निर्मल व्यक्तित्व का आलोक।

'बात यह है कि...प्रकाश...कि '

ऐसा आज तक कभी नहीं हुआ था—एक दूसरे के निकट पहुँचने में कुछ इतनी मंजिलें समाज और परम्परा से बना दी हैं कि अवसर तो लोग एक दूसरे के नजदीक पहुँच ही नहीं पाते—

'अच्छा, विवेक, कॉफी खत्म कर लो, फिर कहीं चल कर बातें करेंगे ।'

कुछ देर बाद दोनों ने कॉफ़ी ख़त्म कर ली। 'ऑमलेट' और 'टोस्ट' भी विवेक को ही खाने पड़े क्योंकि यह प्रकाश की ज़िद थी और विवेक को मालूम पड़ गया था कि प्रकाश की ज़िद को टाला नहीं जा सकता 'बिल' भी प्रकाश ने दिया और दोनों कॉफ़ी हाउस के बाहर चले आये।

सड़क पर भीड़ काफ़ी थी, लेकिन प्रकाश, सिगरेट के कश खींचता हुआ बहुत लापरवाही से चल रहा था। विवेक को एक अजीब सुख का अनुभव सा हो रहा था जैसे उसके दिल के बिल्कुल क़रीब आ गया हो कोई।

'यार, यह धूप बहुत बेहूदा लगती है मुझको – इसमें चीज़ें ज़रूरत से ज्यादा साफ़ दिखाई पड़ती हैं और यह बात निहायत 'वल्गर' है –

और बिना बात पूरी किए हुए उसने एक टैक्सी को इशारा कर के बुलाया – 'किधर सेठ?'

टैक्सी का दरवाज़ा खोल कर अन्दर घुसते हुये प्रकाश बोला – 'जहन्नुम।'

टैक्सी ड्राइवर अचकचा गया—'यह जहन्नुम किधर है, सेठ, अपने को मालूम नहीं।'

विवेक को एक बारगी हँसी आ गई – न जाने कब से वह इस तरह से हँसा नहीं था। 'अबे चल तो – सेठ के बच्चे!'

घबरा कर टैक्सी चल पड़ी।

'देखो—जिधर तुम्हारा जी करे चलते चलो जब तक मैं बस न कह दूँ और बीच में कुछ पूछा तो....'

'जी – सेठ।'

पल्लू उलझ गया हो एक काँटे में और कदमों के साथ आगे न बढ़ रहा हो—हाँ—एक कांटा तो है ही लेकिन उसकी चुभन, उसकी पीर कितनी मीठी है—और मैं चाहता हूँ कि स्मृतियाँ मुझे पीछे खींचें—न बढ़ने दें आगे क्योंकि जो कुछ मैं हूँ वह केवल स्मृतियाँ ही तो हैं, मेरा रह क्या जायगा—एक विशाल शून्य—मुरझाई हुई पंखुरी काँपती हुई—नाचती हुइ गति के ववंडर में...

'क्या सोच रहे हो, विवेक ? बीती बातें—किसी की याद ?' प्रकाश अचानक बोला।

विवेक बिल्कुल सकपका गया—उसे लगा जैसे प्रकाश ने उसके अन्तर्मन में झाँक लिया हो—'नहीं...नहीं तो !'

'झूठ ! तुम सोच रहे थे—तुम्हें कुछ याद आ रहा था ! पता नहीं इन्सान को इतना मोह है क्यों अतीत से या भविष्य से—क्यों उलझना चाहता है वह बीती बातों में—या कल के सपनों में भी क्यों ! जो ख्वाब कल के हैं उन्हें कल का करने के लिये वह कितना बेक़रार रहता है—उसके अरमान दूर पर मुस्कराती हुई बहारों को 'पा' कर नंगी पतझड़ में बदल डालना चाहते हैं—हर चीज़ को कीचड़ में घसीटना चाहता है वह और फिर अपने आप को कहता है वह 'कलचर्ड' और सभ्य—इन्सान आदतन 'वलगर' होता है—और यही नहीं,' प्रकाश के होठों पर एक कड़ुवी, व्यंगात्मक मुस्कराहट काँप गई, वह खुश भी होना चाहता है ! खुशी तो केवल वर्तमान के बस एक लमह में है जिसे इन्सान पकड़ नहीं सकता—न बीते हुये 'कल' में है, न आनेवाले 'कल' में और उम्र बढ़ने पर इन्सान का अहसास इतना मोटा—उसकी प्रवृत्तियाँ इतनी भद्दी और 'वलगर' हो जाती हैं कि वर्तमान

के एक लमह की उन बारीक खूबसूरती को वह पकड़ नहीं पाता, केवल बच्चे उसे पकड़ पाते हैं। आह! वर्तमान का एक क्षण—सिर्फ एक क्षण! इन्सान की खुशी—उसकी कल्पना—उसके आदर्श—उसकी प्रेरणा—उसकी कला—सब केवल उस एक क्षण में हैं! कितना गहरा होता है वह एक क्षण—कितना विराट! उस एक क्षण में कविता का—कला का—विज्ञान का—दर्शन का जन्म होता है! उस एक क्षण के उल्लास में पहले इन्सान ने गुफाओं के अँधेरे सीने पर अपनी प्रेरणा के पहले और बेमिसाल फूल खरीदे थे—उस एक क्षण में बुद्ध को ज्ञान मिला था—उस एक क्षण में संसार की सबसे महान् कविता लिखी गई है—उस एक क्षण को पूरी तरह महसूस करने की चेतना से नये संसारों—नये आदर्शों का निर्माण होता है—नये नक्षत्र ढलते हैं—उस एक क्षण में उमगों के यह चटखाले और शोख फूल खिलते हैं—शराब के फिरोजी सैलाब उफन पड़ते हैं! लेकिन इन्सान उस क्षण से परिचित नहीं है! आदि काल से कविता और कला हमें इसलिये संतोष और सुख देती रही हैं क्योंकि उसमें जो एक क्षण की गहराई है उसे बीतने वाले समय ने गन्दा और बदसूरत नहीं किया है—क्योंकि उनमें आत्मा समाई हुई है उस एक क्षण की...

विवेक खामोश था—प्रकाश सीट पर पूरी तरह आराम से बैठा हुआ था—उसकी आँखों में एक नई चमक सी आ गई थी और सिगरेट से उठते हुये धुँये में से होकर न जाने किस चीज की तरफ घूर रही थीं। विवेक हैरान भी तो नहीं था मन्त्रमुग्ध सा बैठा था—जैसे जीवन का नया रहस्य खुल रहा था उसकी आँखों के सामने—चाँदनी के एक पर्दे के बाद दूसरा और उसके बाद

दूसरा और उसके बाद...एक अजीब सा आलोक जिसका पूरा अहसास नहीं हो रहा था उसे !

विवेक को पता नहीं लगा कि कब प्रकाश ने ज़रा आगे बढ़ कर टैक्सी ड्राइवर को कुछ आदेश दिया—वह तो उन जादुई गहराइयों में ग़ोते लगा रहा था जिनकी गहराई सतह में होती है और सतह गहराई में—

प्रकाश ने विवेक के पैरों पर हाथ मारते हुये कहा: 'क्यों विवेक—खो गये मेरी तक़रीर में—बिल्कुल बकवास थी लेकिन तुम लोगों को बस खो जाना ही आता है और जो नया हीरा तुम्हें मिलता है उसकी तरफ़ तुम इतना घूरते हो कि वह पत्थर की तरह अंधा और निस्तेज हो जाता है। जागो—दोस्त—ज़िन्दगी जागने के लिये है !'

और विवेक जाग उठा ! पत्थर की शिखाओं पर दिन डूब गया था और साँझ ढुलक गई थी। क्षण विशेष के उल्लास में कुछ इतनी मोहनी होती है कि सूरज ढल जाते हैं और पता नहीं लगता ! और लोग कहते हैं कि समय बीत गया !

फिर भी स्वभाव की विवशता से, विवेक के मुँह से निकल पड़ा—'काफ़ी समय बीत गया !'

और यह कहते ही विवेक को लगा जैसे उससे कोई भारी भूल हो गई है और कुछ खोये हुये से, प्रकाश ने उत्तर दिया—'हाँ क्या समय बीत गया ?'

एक मामूली सी बस्ती के बीच में आकर टैक्सी खड़ी हो गई। जो कुछ चारों तरफ़ था—उसे देखकर विवेक को आश्चर्य हुआ। खासी चौड़ी गली थी—कोई ख़ास साफ़ नहीं—कुछ छोटी-छोटी दूकानें थीं—कहीं दूर से गाने की और साजों की आवाज़

आ रही थीं—सड़क के किनारे बन्द मकान के साये में कुछ भिखारी बसेरा किये हुये थे—एक मामूली से चाय खाने में एक फ़िल्म के रेकार्ड बज रहे थे— एक चमक सी थी मोहल्ले में लेकिन ठुकराई हुई ज़िन्दगी की बुझी हुई सी चमक—प्रकाश और विवेक टैक्सी से उतरे और टैक्सी का भाड़ा देकर प्रकाश ने उसे विदा कर दिया! विवेक ने ताज्जुब में पूछा—'हम लोग कहाँ आ गये ?'

गले में सिल्क का रूमाल बाँधे हुये एक आवारा युवक इन दोनों की तरफ़ आया और प्रकाश से बोलाः 'लौट आये, प्रकाश भैया।'

'हाँ—मंगू! क्यों घूम रहा है मुँह लटकाये ?'

'क्या पूँछते हो भैया! आज कुछ बिक्री नहीं हुई।'

'तेरी माँ की तबियत कैसी है ?'

'आज भी खाँसी जोर की रही।'

पतलून की जेब से दस का एक नोट निकाल कर मंगू के हाथ में थमाते हुये, प्रकाश ने उसकी पीठ पर एक घूँसा लगाया। 'जा, माँ की दवा ले आना—शराब मत पी जाना।'

कुछ दूर से मंगू की आवाज़ आई: 'अरे नहीं—भैया की क़सम।'

'झूठा कहीं का।' हँसते हुये प्रकाश ने विवेक के गले में हाथ डाल कर कहा, 'आओ, ऊपर चलो कमरे में।'

झूठे प्याले—बेतरतीबी से फैले हुये कपड़े—बिखरी हुई किताबें और काग़ज़—मिजगला हुआ बिस्तर—सूनी दीवालें—कमरे को देखने से पता लगा सकता था कि यह कमरा प्रकाश का

है—न चाहते हुये भी अपने सम्बन्ध में आने वाली वस्तुओं पर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ ही देता है।

'मैं तुम्हें यहाँ इसलिये लाया हूँ विवेक, कि जान लूँ कि तुम्हें क्या ग़म है—माथे पर क्यों है दर्द की यह शिकन—आँखें वीरान क्यों हैं? और तुम बताओगे यह सब मुझे—बैठो इस कुर्सी पर...' आगे बोल नहीं सका प्रकाश क्योंकि खाँसी का एक ज़बरदस्त दौरा आ गया—चेहरा सुर्ख़ हो गया और आँखों से पानी निकलने लगा।

६

और विवेक ने बताया उसे जो उसका मित्र था—उसके किसी छिपे हुये आदर्श का प्रतिरूप—

—कि क्या ग़म था उसे—क्या चिन्तायें—क्या तकलीफें।

क्योंकि उसे बताना ही था।

७

वाँयल के झीने, नीले पर्दे के पार रात बहुत उदास और कोहरे के कफ़न के पीछे सितारे बहुत मन्द हैं—खोये हुये, भटके हुए से। चाँद नहीं है—हवा में नमी है और एक गीली ठण्ढ! काले क्षितिज की पलकों में से लहर उफन कर उठती है—गरजती हुई आती है और किनारे पर फूट कर बिखर जाती है और पस्त होकर—टूट कर लौट जाती है—एक ज़ोर का शब्द होता है और फिर कुछ बहुत मद्धिम, जैसे सिसक रहा हो कोई—

स्मृतियों की लहर आती है, गरजती—उफनती हुई—उदासी को गहराई का उठान लिये हुए, आकर टकराती है चेतना की चट्टान से—टूट कर बिखर जाती है आँसुओं में—

—माथे की पीलाहट पर ठंडे और चिपचिपे पसीने की बूँदें उभर आई हैं, नसों में खून नहीं दौड़ रहा है और सारे शरीर के अन्दर एक सनसनाहट है, भिंची हुई मुट्ठियाँ गीली हो गई हैं और पेट में दर्द की ऐंठन है— अन्धकार कमरे में इतना गहरा है कि पता नहीं चलता कि आँखें बन्द हैं या खुली हुई—

...भू...ख!

—...भूख! वेदना की चीत्कार।

—अब सब कुछ खत्म हो चुका है—टूट चुका है—नष्ट हो चुका है वह सब जिसके लिये मेरा जीवन था लेकिन मैं हूँ और यह भूख है—यह बेशर्म—नंगी भूख—जलील भूख—नीच भूख—केवल भूख...

...केवल पेट भरना भी ऐयाशी है...हाँ केवल पेट भरना भी एक ऐयाशी है और वह ऐयाशी भी तुम नहीं कर सकते। आखिर कब तक भूखा रहेगा इन्सान—कब तक लड़ेगा वह रोटी के उस टुकड़े के लिये जिसे उसने स्वयं पैदा किया है—गेहूँ के उस दाने के लिये जिसे सींचा है उसने अपने लहू से—कब तक कब तक ? कब तक वह रोटी के लिये—कपड़े के लिये—शरण के लिये—शांति के लिये—लड़ेगा—रोयेगा—चीखेगा—भीख माँगेगा—गिड़गिड़ायेगा—या तड़पेगा क्रोध या वेदना से ?

आज सता लो तुम उसको इतना कि रोटी के टुकड़े के लालच में वह तुम्हारे सामने रोये—गिड़गिड़ाये—हाथ फैलाये—घुटने टेक दे और यह सोचने का साहस भी न कर सके कि वह तुम्हारे बराबर का स्थान ले सकता है—उसे अवकाश न हो कि वह प्रगति और आत्मोन्नति के मार्ग पर क़दम बढ़ा सके लेकिन वह दिन दूर नहीं है जब रौंदी हुई धूल उठ कर ऊपर आ जायगी और तुम्हें अन्धा कर देगी। छोटे से छोटे जानवर को घेरकर तुम परेशान तो कर सकते हो लेकिन अन्त में वह झपटता है हिंसक हो कर और फिर हम तो इन्सान हैं ! इन्सान को इतना विवश मत करो—मत करो कि वह जानवर बन जाय !

यहक कर विवेक की दृष्टि क्षितिज के ऊपर की घनी स्याही के बीच में चमकते हुये एक सितारे पर पड़ी—

—प्रकाश !

—प्रकाश ! प्रकाश को मालूम हो गया था कि विवेक को क्या दुख है—क्या बात है कि उसका जवान चेहरा कुम्हलाया रहता है—उसकी दृष्टि ऊपर नहीं उठती—उसका हृदय जिसे खिलखिलाते रहना चाहिये था खुशी से और जिसमें आशाओं और उमंगों के मस्त तराने होने चाहिये थे वह बुझा हुआ फानूस था—

प्रकाश उन लोगों में से था जिन्हें सफलता की न तो आवश्यकता होती है और न तलाश और न जिनकी नजरों में सफलता का कोई महत्व ही होता है लेकिन फिर भी जो सफल होते हैं। जिन्दगी उसके लिए एक मजाक था क्योंकि उसकी वेदना गहनतम् थी और उसके अन्दर कड़ुवाहट थी—जहर से भी ज्यादा कड़ुवी। वह जिन्दा इसलिये था क्योंकि वह जिन्दा रहना नहीं चाहता था; जिस जीवन की कल्पना उसकी आत्मा में थी वह था नहीं और इस जीवन के पास जो कुछ उसे देने के लिये था उससे उसे केवल गहरी पीड़ा ही मिली थी। फ़िल्म प्रड्यूसरों को वह अहमक़ समझता था, इसलिये फ़िल्म प्रड्यूसर उस पर कहानी के 'कान्ट्रैक्ट' और दौलत बरसाते थे। जिस चीज की उसे तलाश थी वह उसे कभी मिली नहीं—जिस चीज की तलाश उसे नहीं थी वह उसे अधिक से अधिक मात्राओं में मिली। और जब उसने देखा कि विवेक को उस चीज की आवश्यकता है—गहरी आवश्यकता है—ऐसी आवश्यकता है—गन्दी, भीषण, कीचड़ में घसीटने वाली आवश्यकता है—जिसके कारण उसका व्यक्तित्व निखर नहीं पा रहा है और अपनी पूरी खुशबू बिखेर नहीं पा रहा है तो उसने...

...विवेक को कहानी का 'कान्ट्रैक्ट' मिल गया—पूरे पाँच हज़ार रुपये का 'कॉन्ट्रैक्ट' ! जिन्दगी ने रूप बदल दिया—

चेहरे पर से क़फ़न का नक़ाब उठ गया और रेशमी झिलमिला-हटों के पीछे से ज़िन्दगी मुस्कराने लगी। विवेक का चेहरा जब फूल सा खिला तो प्रकाश भी बहुत खुश हुआ—सही मानों में, जैसा शायद वह वर्षों से नहीं हुआ था!

तीन महीने के अन्दर ढाई हज़ार रुपया विवेक ने लखनऊ भेज दिया—पिता के पास—ताकि कर्ज़ कुछ कम हो सके—ताकि नीरा के चारों तरफ़ लिपटी हुई मौत की सर्द बाहें कुछ ढीली की जा सकें!

चमचमा उठे फूल सूरजमुखी के—अब तो निबट जायगा पिता जी का सारा कर्ज़—अब तो नीरा मुक्त हो सकेगी उस मन-हूस बीमारी से—अब तो उसके माथे का बुझा हुआ चाँद पूनम के पूरे शृङ्गार के साथ निकल सकेगा—उसके उलझे—सूखे हुये बाल सावन की घटाओं की तरह लहरा उठेंगे—उसके होठों पर गुलाब की पंखुड़ियाँ मचल उठेंगी—अब तो...

विवेक कृतज्ञता में और प्यार में प्रकाश के चरणों में लोट सकता था लेकिन इसमें प्रकाश का अपमान होता, इसलिये विवेक ख़ामोशी से उस देवता को पूजता रहा, जो उसका मित्र था।

अपना पिछला कमरा छोड़कर विवेक जुहू में ही सागर के किनारे एक होटल में रहने चला गया था। जुहू भी क्या जगह थी! दूर तक फैला हुआ सागर-तट जिसकी बालू दिन की धूप में जवानी की तरह चमक उठती थी और रात की चाँदनी में प्यार की तरह, और तट से अनन्त के छोर तक फैला हुआ समन्दर जिसकी उफनती—उबलती—उमङ्ग भरी लहरें दिन-रात नीली परियों की तरह खेलती थीं—खिलखिलाती थीं और जिनके

शोख़ बदन अँगड़ाइयों से हमेशा टूटते—लचकते रहते थे, और नीली रात की चाँदनी की, भीगे हुये मोती की सी, आभा में नारियल के लम्बे वृक्षों के रूमानी साये जिनकी धूप-छाँह में प्यार करने को जी करता था—कोलाहल से भरा हुआ शहर भी बहुत अच्छा लगता था विवेक को और 'मलाबार हिल' की ऊँचाई पर खड़े होकर मैरीन ड्राइव की संध्या की रौनक़ भी—उसकी झिलमिलाती हुई बत्तियाँ भी जो मणिमाला की तरह गोलाई में सागर के किनारे-किनारे लगी हुई थीं! होटल का गोएनीज़ मालिक—डिमेलो—उसका आदर करता था और उसका लड़का बर्टी, उसे मुस्कुरा कर 'गुड मार्निङ्ग' करता था—उसके पड़ोसी सेठी और दूसरे उसकी ओर प्रशंसा और ईर्ष्या की दृष्टि से देखते थे और होटल के मालिक की लड़की—सोनिया...

...हिश्त! सोनिया...नीरा...हिश्त! नीरा—उसका पावन प्रेम—उसकी वेदना—उसके मोती जैसे आँसू, लेकिन सोनिया—कमसिन, अल्हड़—जैतून की शाख़ की तरह लचीली और जवान—सुबह की पहली किरण के साथ खिलता हुआ नरगिस का फूल—जिसकी आँखों में गहराइयाँ थीं सागर की सी और जिसके चेहरे पर नीले आकाश की सी व्यापक आभा थी लेकिन नीरा...और सोनिया का यौवन—उसका शर्माता—झिझकता हुआ सा निमन्त्रण—जिसे बस एक बार उँगली से छू लेने को जी करता था, चाहे उतने हल्के से जैसे रात की हवा छू लेती है फूल के गालों पर सोते हुये शबनम के मोती को...लेकिन नीरा...

...और सोनिया अक्सर विवेक के सपनों में आ जाती थी और सुबह के सूरज के साथ वह उस स्वप्न को भूल जाना चाहता था। सोनिया शराब का मतवाला, लबरेज़ जाम थी और नीरा अमृत का प्याला और कभी विवेक भटक जाता था क्योंकि

नसों में बसने वाला इन्सान कभी-कभी अमृत से ज्यादा शराब चाहता है !

सोनिया विवेक के जीवन में धूप-छांव की तरह खेलती रही—विवेक के न चाहते हुये भी। लेकिन यह भी एक बहुत बड़ा मजाक था जो केवल जिन्दगी में ही हो सकता था—मृत्यु में नहीं और अब तक विवेक मरा हुआ ही तो था। केवल शरीर का-- जिन्दगी के हर रोम से महसूस किए जाने वाले सुख का अनुभव विवेक ने आज तक कभी नहीं किया था। हमेशा तो मौत—घोर से घोर संघर्ष उसे घेरे रहा था हर तरफ से और सुख के—शांति के अभाव से उपजी हुई एक क्लांति—एक घबराहट—एक विद्रोह—और इसका अहसास केवल अपने ही लिये नहीं—उन सब के सम्बन्ध में जिन्हें उसने जाना था—मात्र यह था उसके जीवन का सम्पूर्ण मतलब ! कहीं सुकून नहीं—कहीं राहत नहीं—कहीं उल्लास के लाल नहीं ! कहवाघरों में उस अभाव से उपजी हुई चीखें थी या खामोशियाँ, सड़कों पर एक वीरानगी, लोगों के चेहरों पर क़फ़न के नक़ाब, सब कुछ काँपता हुआ—टूटता हुआ मौत के पतझड़ के बवण्डर में ! मौत—मौत एक लम्बी, दर्दनाक मौत—सीठे चेहरे, खाली पेट, बेकारी, बेहाली, नैतिक पतन, सामाजिक बुराइयाँ—सब कुछ—सब कुछ—कहीं उमंग का दीप नहीं—अपने दायरे में—या समाज के दायरे में—पिता की छूटी हुई नौकरी—कर्ज—नीरा—क्षय—शशि—शरीर के रोम खुलते क्या मौत का हलाहल चखने के लिये—

ऐसे में सुख भी प्राप्त होता है तो गहनतम् वेदना के रूप में—व्यक्ति की मनोवृत्ति अस्वस्थ हो जाती है और वह मौत में जिन्दगी का बहाना और हलाहल में मिठास ढूँढ़ता है—

शराब की कड़ुवाहट में वह सुरूर का आविष्कार करता है और नारी के पतन में इन्द्रियों की तृप्ति—शमशान में वह कविता की तलाश करता है—अँधेरे में वह कड़ुवे तेल के चिराग़ जलाता है जिसकी लौ स्थिर नहीं होती और टिमटिमा कर बुझ जाती है—अपने पीछे एक और भी सघन अन्धकार छोड़ती हुई।

इस मनोवृत्ति के साये में विवेक ने नीरा को प्यार किया था—उसके उलझे हुये, रूखे बालों को—उसके रक्तहीन होठों को—उसके माथे के बुझे हुये चाँद को। शायद विवेक को यह स्वयं नहीं मालूम था कि उसको नीरा से—नीरा के शरीर से नहीं—उसकी वेदनाओं से प्यार था क्योंकि उसमें प्रतिबिम्ब था उसकी अपनी पीड़ाओं का—उसके अपने अकेलेपन का—अभाव का।

इसलिये जब विवेक को सफलता प्राप्त हुई और शरीर के फूल पतझड़ की दाढ़ों से मुक्त होकर उमगने लगे तब...

उस दिन शाम को विवेक जल्दी लौट आया था। कमरे में तबियत नहीं लगी तो वह बाहर निकल कर सामने हॉल में चला गया। हॉल चारों तरफ़ से खुला हुआ था—टीन की छत थी और उसको फोड़ कर नारियल के वृक्ष का तना ऊपर आसमान तक चला गया था। एक तरफ़—जिधर सागर के तट वाला हिस्सा पास पड़ता था—दो लम्बी खाने की मेजें पड़ी थीं और उनके दोनों तरफ़ दस-बारह कुर्सियाँ; हॉल में जगह-जगह पर छोटी-छोटी मेज़ें और इनके इर्द-गिर्द चार-चार कुर्सियाँ पड़ी थीं, पिछले इतवार की रात के डान्स में सजाये गये हॉल में अब भी छत से रंगीन काग़ज़ की झंडियाँ लटकी हुई थीं और कहीं पर एक-दो गुब्बारे जिसमें से काफ़ी हवा

निकल चुकी थी—एक कोने में दो 'बिलियर्ड टेबिल्स' रखी हुई थीं—बीच में एक ग्रामोफोन था—एक तरफ काउन्टर बना हुआ था और उसके बगल में 'किचेन'। काउन्टर पर 'स्क्वाश' की और टिमाटर की चटनी की बोतलें सजी रखी रहती थीं—शीशे के कन्टरों में बिस्कुट—सिगरेट के पैकेट और इसके पीछे मैनेजर की मेज़ जिस पर कभी बूढ़ा मालिक डिमैलो—कभी उसका बेटा वर्दी बैठते थे। डिमैलो का एक छोटा लड़का और भी था जो दिन और रात हर समय एक खाकी नेकर पहिने और नंगे बदन टहलता दिखाई पड़ सकता था। उसके खुले सीने पर एक सुनहरी चेन के साथ क्रॉस लटका रहता था। पैरों में जूता पहिने भी उसे कभी किसी ने नहीं देखा था और सिवा बिलियर्ड खेलने के कोई काम करते हुये क्योंकि उसका यह बहुत उम्दा खिलाड़ी था। रॉजी तगड़ा बहुत था और उसकी सुनहरी खाल को तपाकर सूरज ने तांबे के रंग का कर दिया था। रॉजी के पास एक सुर्ख रंग की 'टी शर्ट' थी जिससे वह प्यार करता था और 'डांस' की रात को पहनता था जब उसके बाप और भाई पर बहुत काम आ पड़ता था। इसके अलावा डिमैलो की दो लड़कियाँ थीं—सोनिया, बहुत हसीन और मैरिया, बहुत भद्दी—एक जंगली फूल की तरह हमेशा बाग में मुस्कुराया करती थी और दूसरी मुरझाये फूल की तरह हमेशा पत्तियों से ढँकी रहती थी। डिमैलो अक्सर खामोश—मुँह में पाइप लगाये और अपनी सिलेटी बुश-शर्ट के बटन खोले हमेशा इधर-उधर टहला करता था—कुछ एक अजीब खामोशी सी—विरक्त सी—संतोष सा था इस परिवार में—शायद इस क़ौम में ही!

हाँ, तो उस दिन शाम को जब विवेक लौट आया और उसकी तबियत कमरे में नहीं लगी तो वह हाल में आकर बैठ

गया और उसने वैरा से एक प्याला काफ़ी लाने को कहा। बिलियर्ड की मेज़ पर विवेक का एक पड़ोसी और रॉजी खेल रहे थे। लगभग ख़ामोशी थी—केवल रह-रह कर बिलियर्ड के 'क्यू' के गेंद में लगने की और गेंदों के टकराने की खट-खट आती रहती थी। वैरा ने कॉफ़ी लाकर रख दी और कॉफ़ी के घूँटों के साथ विवेक विचारों की दुनियाँ में खो गया—

--क्या चीज़ है दुनियाँ भी? अब से पाँच साल पहले चाँदना साहब साबुन का रोज़गार करते थे—अब पांच सालों में वह पाँच फ़िल्म बना चुके हैं—मैरीन ड्राइव पर एक फ़्लैट है—एक ख़ूबसूरत शेवरलेट 'कार' है—बीवी है—एक बच्चा है और अब वह अपने छठा फ़िल्म बनाने जा रहे हैं जिसमें हींग और मसालों के व्यापार करने वाले एक मारवाड़ी का चार लाख रुपया लगा है! चान्दना साहब को अब साहित्य की पहिचान है—वह लेखकों के भाग्य निर्णायक हैं—ठीक ही तो कहा था प्रकाश ने मुझसे: 'यह प्रड्यूसर कोई एहसान करते हैं हम पर? यह तो इन्हीं कमबख़्तों के दिमाग़ का छिछलापन है कि अपनी दौलत के बल पर कला के पारखी होने का दावा करते हैं। यह मानो कला न हुई इनकी सड़ी हुई दौलत का तमाशा हो गई...लेकिन ख़ैर! चान्दना साहब ने कहानी तो पसन्द कर ली है—गधे कहीं के...इतनी अक्ल भी नहीं है कि स्टोरी का 'क्लाइमेक्स' कहाँ होना चाहिये—गोबर कर दिया मेरी कहानी को—लेकिन मेरा क्या बिगड़ता है? लेकिन क्या मेरा कुछ नहीं बिगड़ता? क्या यही है मेरी साहित्य साधना—क्या उस प्रड्यूसर को मुँह पर गाली दे दूँ? लेकिन फिर—क्या ठीक है...सत्य और साधना और इसके साथ ग़म और आँसू और मौत या समर्पण, ख़ुशियाँ, जो अपने हैं उनकी ख़ुशियाँ?...

...लेकिन अब नहीं ? अब नहीं करूँगा साधना—क्यों बहाऊँ आँसू—दूसरों के आँसू पत्थर समझकर ठुकराने का मुझे क्या अधिकार है—साधना कर चुका बहुत—सत्य की पूजा कर चुका बहुत—क़ुरबान कर चुका बहुत उन्हें जो मेरे हैं—शशि—पिता जी—नीरा—नीरा—सबसे ज्यादा नीरा—बीमार नीरा—उदास, थकी हुई नीरा—जिसकी साँस का पंछी तड़प रहा है मौत की दाढ़ों के बीच में—जिसके होठों पर ख़ुशी की एक भी किरण कभी उगी नहीं—थिरकी नहीं, जिसका यौवन, जिसे आँखों से फूट पड़ना चाहिये था शराब की सतरंगी फुहार में, कभी जवान ही नहीं हुआ—जिसके अरमान......

नहीं—नहीं—नहीं—बहुत हो गया ! मैं दुनिया की रीति को मान लूँगा क्योंकि दुनिया मुझे धन देगी—मेरे पिता का कर्ज निबट सकेगा—मेरी नीरा जी सकेगी—हँस सकेगी—वह ज़िन्दगी जी सकेगी जिस पर उसका अधिकार है लेकिन जो नहीं मिली उसे—

—तुम स्वार्थी हो !

—तुम कमज़ोर हो !

—तुमने घुटने टेक दिये संकट के सामने !

—तुम हार गये संघर्ष में !

—तुमने सत्य का, न्याय का, स्वयं का गला घोंटा है !

—हाँ—मैं स्वार्थी हूँ, मैं कमज़ोर हूँ, मैंने घुटने टेक दिये हैं संकट के सामने, मैं हार गया हूँ संघर्ष में—मैंने सत्य का, न्याय का, स्वयं का गला घोंटा है—मैं कायर हूँ—बुज़दिल हूँ—नीच हूँ—मगर—मैंने पिता का कुछ कर्ज तो निबटाया है—मैंने नीरा के इलाज की कुछ सुविधा तो जुटाई है और यह मेरे हैं—यह

'मैं' हूँ और मुझे जिन्दा रहना चाहिये—मुझे जिन्दा रहना ही है। आज तक मैं मरा हूँ—मैंने समाज की प्रतिक्रियावादी ताकतों के खिलाफ़ युद्ध किया है और मैं भूखा मरा हूँ—मेरे जो हैं वह भूखे मरे हैं—संकट में रहे हैं—मरे हैं! मैं ऐसा संघर्ष क्यों करूँ जिसमें मेरा और उनका जो मेरे अपने हैं, नाश हो, सत्य एक भ्रम है—न्याय धोखा है—आदर्श बकवास है—'अहम'—अहम केवल अहम महत्वपूर्ण है—मैं—मेरे अपने—मेरा लाभ—मेरी उन्नति—मेरी खुशियाँ! सत्य का अन्याय मैं बहुत दिन बर्दाश्त कर चुका—न्याय का फ़रेब मैं बहुत दिन खा चुका—आज मैं उठूँगा और खुद आगे बढ़ने के लिये मैं कुचल डालूँगा सत्य और न्याय की प्रतिमाओं को—चाँद और सूरज सिर्फ़ मेरे लिये उगेंगे—फूल मेरे दिल बहलाव के लिये मुस्कुराएँगे—मैं ज़िन्दगी का बादशाह बनना चाहता हूँ—रूप, जवानी, सौंदर्य सब—सब कुछ मेरे लिये हैं—मैं चाँद को आसमान से नोचकर अपने घर में दीप की जगह सजा लूँगा ताकि मेरी ज़िन्दगी जगमगा उठे चाहे फिर संसार भर में अन्धकार क्यों न छा जाय—मैं नदियों की धारें अपने उजड़े हुये चमन में मोड़ लूँगा ताकि वहाँ बहार आ जाय और सारी दुनिया बन जाय रेत का वीराना—मैं हूँ—मैं हूँ—मैं महान हूँ—आसमान की ऊँचाइयों से ऊँचा—जिन्दगी का सारा सुख मेरे लिये है—रूप की मदिरा मेरे लिये है—मैं इनमें नहाऊँगा—सराबोर हो जाऊँगा—मैं...

बैरा ने आज्ञा माँगते हुये कॉफ़ी का खाली प्याला सामने से उठा लिया। विवेक के विचार का सूत्र टूट गया। इतनी गहराई से सोचते रहना अच्छा भी तो नहीं होता—या तो दिमाग़ फूट पड़ता है या संतुलन का अन्त हो जाता है।

विवेक के हाथ कोट की गहरी जेबों में धँस गये। एक जेब

से उसने सिगरेट का पैकेट और दूसरे से दियासलाई निकाली लेकिन सिगरेट का पैकेट खाली था। सिगरेट वहाँ बैठे-बैठे भी बैरा को 'ऑर्डर' दे कर मँगाई जा सकती थी लेकिन जब अन्तर में तूफ़ान भड़क उठा हो—बिजलियाँ कौंधने लगी हों और बादल टकरा कर फूटने लगे हों तब स्थिर नहीं बैठा जाता—उस वक्त तो नसों में दौड़ते हुये खून में वह क़ूवत होती है कि तूफ़ान की पागल अश्वों की बागें थाम कर उन्हें वश में कर ले—कौंधने वाली बिजली से छेड़छाड़ करने को जी करता है—बादलों के मस्तक पर बैठ कर आसमानों की बुलन्दियाँ नापने का साहस होता है। और इस तरह के तमाम तूफ़ानों में सबसे भयंकर होता है वह तूफ़ान जब संघर्षों के मन्थन से व्यक्ति के अन्तर में अहम् जागता है और वह उन परिस्थितियों को फोड़ कर ऊपर उठता है जो अब तक उसे जकड़े हुई थीं।

विवेक कुर्सी से जब उठा तो उसके अन्दाज़ में एक अजीब सी शान थी और जिस ढंग से उसने मरोड़ कर फेंका सिगरेट के उस खाली पैकेट को। उसने महसूस किया कि हॉल के अन्दर की हर चीज़—जड़ या चेतन—उसे आश्चर्य, आदर और भय की दृष्टि से देख रही है और उसके शाही क़दमों के नीचे धरती काँप रही है। पता नहीं ऐसा वास्तव में था या नहीं—हाँ—अब तक 'क्यू' से बिलियर्ड की गेंदों के लगने की धीमी 'ठक-ठक' की आवाज़ आ रही थी और ग्रामोफ़ोन पर किसी ने कोई बहुत उदास सा "ऑरकेस्ट्रा" का रिकार्ड लगा दिया था।

"Yes, sir ?"

बहुत कोमल सी आवाज़ में कहे गये यह दो प्रश्नसूचक शब्द विवेक की चेतना पर आकर टकराये—क्योंकि यह आवाज़

न डिमैलो की थी—न वर्टी की—न रॉज़ी की और न घेरे की—यह आवाज़...

काउन्टर के ऊपर लटके हुये बल्ब की रोशनी उन घने कुन्तलों के लहरों जैसे चढ़ाव-उतार पर रश्क कर रही थी—माथे की ज़ैतूनी खाल पर गर्वीले कौमार्य का अछूतापन था—दूज के चांद की सी भवें और उनके नीचे आँखों की सुरमई गहराइयाँ जिनमें वय: संधि के करोड़ों सितारे पिघल कर शबनमी फूलों से झर रहे थे—नाक की उठी हुई नोक पर हल्की सी चमक—होंटों पर भोर का सा गुलाबीपन, सुडौल गर्दन और उसमें पड़ी हुई 'चेन' से लटका हुआ 'क्रॉस' जो छींट की फ्राक के ऊपर थोड़ा सा झलक रहा था और उस 'क्रॉस' के नीचे...

और अजीब सी होती है ज़िन्दगी की करवटें भी—कभी मुरझाए हुये गुलाबों पर पड़ी हुई मौत की विभीषिका—कभी चिलमन के खिसक जाने पर सितारों की शबनमी मुस्कुराहट—हरसिंगार के फूल झर-झर कर ज़मीन पर पीले पड़ने लगते हैं—चट्टान को फोड़ कर छलछलाती हुई जल धार का फेन सुबह के सूरज के सिन्दूर के स्पर्श से लजा जाता है!

रगों में ज्वालामुखी की तरह फूट पड़ी थीं मुद्दतों से सोई हुई उमङ्गें, इसलिये...सोनिया...हिरत...नीरा...नीरा...मगर सोनिया...मगर सोनिया...

८

जिन्दगी को बस एक बहाना चाहिये – शायद इसी में महान् हैं मृत्यु से जिन्दगी की ताक़तें।

और जिन्दगी शायद सफलता में है – शायद इस विश्वास में है कि सफलता मिलेगी – आशावादिता में है—या शायद उस लगन में है जो रोशनी और अन्धेरे के – मौत और जिन्दगी के बीच में है।

और अन्त में सब कुछ है मात्र एक बहाना!

गहनतम् संघर्ष के बीच में, जब आस का हर दीप सोया पड़ा था – विवेक को बहाना मिला था पिता के कर्ज़ में, नीरा की बीमारी में—वह बम्बई आ गया था और जब प्रकाश ने चिराग़ रोशन कर दिया था तो फिर सफलता या उसकी आशा बन गई थी बहाना। एक कॉन्ट्रैक्ट—दो कॉन्ट्रैक्ट – तीन कॉन्ट्रैक्ट.....
पिता का कर्ज़ निबट गया था और नीरा...नीरा भवाली चली गई थी वहाँ के 'सैनिटोरियम' में, दाखिल होने के लिये...पिछला पत्र नीरा का कितना अजीब लगा था विवेक को :

...मैं क्या लिखूँ तुम्हें—मेरे देवता – कैसे लिखूँ ? जिन्दगी का किनारा कुहासे में डूबा हुआ है – कुछ रहस्यमय ढङ्ग से बढ़ता जा रहा है जिन्दगी का धागा और उसके साथ-साथ विछोह भी

और अनिश्चित रहते चले जाने की तड़प भी—कुहासा तो छटे—फिर देखा जायगा कि किनारे पर शमशान की तारीकी राज्य कर रही है या उस पर आसार हैं रोशनी की किरण फूटने की ! मैं देख रही हूँ कि मैं वह कुछ कहने का प्रयत्न कर रही हूँ जिसे कहने में समर्थ नहीं हूँ; पर अपनी बात कहने में अपनी असमर्थता का संकोच नहीं होता मुझे। छोड़ो ! अपनी पीड़ाएँ, वेदनाएँ तुम्हें दे कर मैंने अपना भार सदैव हलका किया है—अब अधिक नहीं ! तुम्हें यहाँ का कुछ बताऊँ—मेरे सिराहने की खिड़की के पार एक ऊँचा सा पहाड़ी टीला है, चीड़ के अनगिनत वृक्षों से ढँका हुआ—नम और हलका सा कोहरा भीने चीड़ की वृक्षों की नोकीली सुइयों में उलझा हुआ है—कोहरे में सुबह के रंग भरे हुये हैं—गुलाबी, सुनहरे, ताज़े—क्योंकि इस टीले के पीछे जो पर्वतमाला अस्तव्यस्त बिखरी पड़ी है उसके पीछे सूरज उग चुका है और ऊपर के हरे से आकाश में पंछी पंख खोल चुके हैं—अभी हिमानी हवा का एक झोंका चला है और धूप में पकी हुई चीड़ की गेरुई सुइयों की और जंगली फूलों की भीनी उसास खिड़की में से अन्दर घुस आई है—लगता है, विवेक, जैसे धूप के इस एक स्पर्श से आख़िर ज़िन्दगी जाग ही उठेगी मेरी रगों में—मैं ख़ुश हूँ विवेक, मैं तुम्हें अपने पास चाहती हूँ, मुझे अपने शरीर का अहसास हो रहा है। कल रात यह खिड़की बन्द थी—वातावरण में सन्नाटा था—कमरे में खाँसी भरी हुई थी मेरी और मेरे साथी रोगियों की और तब उसको भेदती हुई आवाज़ आई थी—मद्धिम सी बाँसुरी की, जिसमें वेदना और विरह के समन्दर भरे हुये थे—मेरी उदासी और गहरी हो गई थी और लगता था जैसे मैं और मेरे सब साथी एक ऐसी कश्ती में बैठे हैं जो अँधेरें के सागर पर हिचकोले खा रही है और जो जल्दी

मौत की चट्टान से टकरा टूट जायगी—जीवन में और हमने देखा ही क्या है—वेदना—संघर्ष—विरह—निराशा और एक लम्बी-लम्बी मौत—मेरा साहस दम तोड़ रहा था—तुम पर भी विश्वास खत्म हो रहा था—कुछ एक अजीब सा वैराग्य आ गया था मुझ में लेकिन बाँसुरी के उस उदास संगीत ने मुझे फिर खींच लिया—मेरी पड़ोसिन की खाँसी ने मुझे वापिस बुला लिया जिन्दगी के दायरे में और मुझे लगा कि मुझे डर लग रहा है मृत्यु से—मैं जिन्दा रहना चाहती हूँ तुम्हारे लिए—अपने लिए! लेकिन सुबह की धूप ने जैसे धो दिया है उस सबको—जीवित रहने की अभिलाषा अब और अधिक बलवान है—लाचारी की सूरत में नहीं—डर कर नहीं—बल्कि मुझमें आशा जागी है कि मैं धूप की तरह जानदार बनूँ और जिन्दा रहूँ—मुझे लाज आ रही है—विवेक—शायद हिन्दू कुमारी के मुँह से यह शब्द उच्छृ-ङ्खल लगें लेकिन मैं तुम्हें वरना चाहती हूँ क्योंकि धूप की जिन्दगी का सङ्केत मेरे शरीर में भर गया है—आज मैं अपने माथे पर उषा का सिन्दूर चाहती हूँ—और इसलिये अब मैं जिन्दा रहना चाहती हूँ मौत के डर से नहीं, जिन्दगी के प्यार से......

खिड़की के बाहर दूर—काफ़ी दूर पर—समन्दर चीख रहा है और नारियल के झुरमुट मौत की उत्तेजना से कांप रहे हैं—रगड़ रहे हैं—आसमानों के दिल फटे जा रहे हैं! पेट में भूख की ऐंठन है और बेबस आँसू—गर्म आँसू जो चेहरे को बर्फ की चट्टानों की तरह ठंडे लग रहे हैं—बल्कि मैं सूखे जा रहे हैं या उनका कोई छोटा सा क़तरा सात दिन से बढ़ी हुई दाढ़ी में उलझा जा रहा है! विवेक रो नहीं रहा है—ग़म आँसुओं की सीमा से आगे पहुँच चुका है—कभी का! सात दिन की भूख—उसमें से दो दिन ऐसे जिनमें उठ कर पानी तक पीने को जी नहीं करता—

लेकिन वह भी कुछ नहीं ! पीड़ाओं और मुसीबतों की चट्टानें जैसे फूट-फूट कर विवेक पर गिरी थीं—जैसे प्रलय हो रही थी—वह प्रलय भी नहीं जिसमें आग के फव्वारे आकाशों तक उठकर विध्वंस कर देते हैं सृष्टि को, यह प्रलय तो कुछ ऐसी थी जिसमें जैसे धरती चटख गई थी और सब कुछ समा गया था मौत की बर्फ़ीली गुफाओं में—केवल एक था, विवेक, जो तिनके की तरह ग़म की स्याह लहरों की तरलता पर बेबसी से तड़प रहा था—शायद केवल इसलिये कि उसको वेदना पूरी गहराई तक महसूस हो सके—क्या हमेशा उसको इसी तरह मौत की तरलता पर काँपते रहना था बिना इस सन्तोष के भी कि वह कभी मर सकेगा ? एक के बाद एक सब कुछ ख़त्म हो चुका था—

—प्रकाश !

"कैसी तबियत है, प्रकाश ?"

"तबियत !" ज़ोरदार खाँसी के दौर ने कमरे की दीवालों को हिला दिया ! कमरे की हदों के बाहर नीचे बस्ती में ज़िन्दगी चिथड़ों में सजी हुई झूम रही थी—क़दम स्थिर नहीं थे—शोख़ी थी—चंचलता थी ! चायख़ाने में रिकॉर्ड चल रहा था—बस्ती की ग़लाज़त पर धूप का सोना बिखरा पड़ा था—

"तबियत पूछते हो—विवेक ! उदास हो—देखता हूँ तुम्हारी आदत अभी बदली नहीं है—ग़म के आगे सिर झुका देना मौत होती है—विवेक—ज़िन्दगी ग़मों से कहीं ज्यादा ताक़तवर है ! मिस्र और एथेन्स की संस्कृतियाँ धूल की पर्त्तों में दफ़न हो गईं—पॉम्पिआइ का रूप लहकते हुये लावा के नीचे दब गया—बड़ी-बड़ी क्रान्तियाँ हुईं—बड़े-बड़े नरपतियों के सिर लुढ़क कर धरती पर लोट गए—युद्ध हुये—आपत्तियाँ आईं—ज़लज़ले आए—

सब कुछ हुआ पर जिन्दगी उसी मौज से—उसी उमङ्ग से झूमती रही—ज़िन्दगी के इस निस्सीम क्षितिज पर मैं..." प्रकाश ज़ोर से हँस पड़ा और हँसी खाँसी में—भयानक खाँसी में बदल गई।

विवेक की आँखों में से आँसू ढलक कर कमरे के फ़र्श पर अचेत गिर पड़े—हाँफते हुये प्रकाश बोला : "कभी नहीं सुधरोगे विवेक—पता नहीं इस इन्सान को अपनी कमज़ोरियों से इतना प्यार क्यों है? और दया-सम्वेदना इन्सान की सबसे बड़ी कमज़ोरी है—कमज़ोरी नहीं, सबसे बड़ा गुनाह है—हाँ! गुनाह—क्योंकि दया घृणा का सबसे क्रूर रूप है और घृणा स्वयं बहुत बड़ा पाप है..."

"अब न बोलो, प्रकाश! तुम्हें नुक़सान होगा..."

"कैसा नुक़सान, विवेक, अभी तो नहीं मर रहा हूँ मैं—और मर भी गया तो क्या मेरे एक के न होने से जिन्दगी के चिराग़ गुल हो जाएँगे—ऊँहूँ—

लेकिन तीन दिन के बाद चिराग़ गुल हो गया। विवेक के जीवन में प्रकाश, प्रकाश लाया था मगर उसका खुद का जीवन शराब के सबसे उन्नत लहर पर खिलवाड़ करने वाले फ़िरोज़ी बुल-बुले की तरह था—मतवाला, जोशीला मगर जल्द फूट कर बिखर जाने वाला और जिस तरह बुलबुले के दिल में शून्य होता है वैसे ही प्रकाश की जिन्दगी में एक गहरा शून्य था और जिस तरह बुलबुले के दिल के शून्य में से छिटक कर रोशनी की किरण सात रङ्गों में फूट पड़ती है वैसे ही उसके व्यक्तित्व में से गुज़र कर जिन्दगी अपने हर रङ्ग में प्रगट होती थी—कभी सुर्ख़—कभी फ़िरोज़ी—कभी पीली—कभी काली—कभी नीली—लेकिन वही

बुलबुले के दिल का सूनापन—वही उसका कमजोर—काँपता हुआ शरीर जो मदहोश होकर तब तक इठलाता रहता है जब तक मिट नहीं जाता। अपने विषय पर प्रकाश के होंठ हमेशा बन्द रहते थे—कभी किसी ने प्रकाश को नहीं जाना था लेकिन अन्त के दिनों में ही विवेक को कुछ पता लग सका था और वह कुछ...

...प्रकाश उन थोड़े से लोगों में से था जो जन्म लेते हैं अपने अन्दर एक बहुत बड़ा सा शून्य लेकर और उसके बाद जिन्दगी के दौर में वह चाहते हैं कि वह शून्य भर सके—प्रयत्न करते हैं कि जो कुछ रिक्त है उसे वह भर दें प्यार से, शोहरत से, सफलता से, धन से लेकिन संसार की रीति के अनुसार इन्हें खरीदना पड़ता है और खरीदी हुई चीजों से प्रकाश नहीं भरना चाहता था अपने व्यक्तित्व का शून्य—इसलिए वह रिक्तता वैसी ही रही।

अगर आँसू निकल सकता तो निकलता अवश्य अपने उस दोस्त के लिए जिसे विवेक ने स्थान दिया था देवता का—सूरज की एक किरण का जो भोर से ही खोजती रहती है साथी को, ऐसे साथी को जिसमें उस जैसी ही आभा हो लेकिन थक कर—रूठ कर—हार कर वह ढल जाती है; जर्रा-जर्रा उसके आलोक से रोशन तो हो उठता है लेकिन किरण के दिल के अन्धकार को दुनिया देख नहीं पाती—उसकी तन्हाई को कोई समझ नहीं पाता और विवेक था साँझ का फ़िरोज़ी धुँधलका जिसमें सूरज का सोना भी छिपा है और चांद का अमृत भी लेकिन जिसे अहसास है नहीं अपने भाग्य का—जो उधरे हुये फूल पर नींद की उँगलियाँ फेर देता है—प्रेमियों के दिल में प्यार की फ़िरोज़ी फुलझड़ी छुटा देता है—जो संघर्ष से हारी लहरों की अलकों को चूम लेता है लेकिन फिर भी उमङ्गों के न जाने कितने शोले कसमसाया करते हैं

ग्राम के उस एक स्याह मोती के दिल में और जब चाँदनी का जादू चढ़ा देता है उस ग्राम को और जब चाँदी की परियाँ उमड़ कर फैलने लगती हैं तो यह खामोशी पिघल कर दुबक जाती है खँडहरों की स्याह ताखों में और कामना नाच उठती है—

...नीरा का पत्र मोड़ कर विवेक ने उसे कोट की जेब में रख लिया और कमरे के बाहर निकल आया। नीरा के पत्र ने उसे काफी विचलित कर दिया था—नीरा की याद ने नहीं बल्कि उसके एक वाक्य ने—"मैं तुम्हें अपने पास चाहती हूँ, विवेक, मुझे अपने शरीर का अहसास हो रहा है—" शरीर का—नसों में दौड़ते हुये गर्म-ताजा खून का—शरीर की बलवान इच्छाओं का—उत्तेजनाओं का! दूर कहीं पहाड़ों की गोद में नीरा के स्वस्थ होते हुये शरीर में कामना की शराब उमड़ने लगी थी। अब तक विवेक ने नीरा के बारे में इस तरह नहीं सोचा था—अब तक नीरा से उसका सम्बन्ध मात्र आत्मा का था लेकिन शरीर की पार्थिवता आत्मा की अमरता से अधिक बलवान होती है—एक स्वस्थ दिमाग को और शरीर को दूसरे स्वस्थ दिमाग की और शरीर की आवश्यकता होती है। विवेक का शरीर काँप उठा उस उत्तेजना से जिसे उसके ग्रामों ने कभी ऊपर उभरने ही नहीं दिया था। उसे लगा कि सारे शरीर का खून दिमाग में चढ़ आया है—उसे ठंडी हवा की जरूरत महसूस हुई—

—और वह कमरे के बाहर निकल आया।

हॉल में आकर उसने बैरा से कहा कि एक गिलास 'आरेन्ज स्क्वॉश' बाहर की मेज पर ले आये। बाहर, जहाँ कुछ खुली जगह थी, कुछ कुर्सियाँ पड़ी थीं और पास से ही एक जीना नीचे

उतर कर सागर तट को जाता था। विवेक कुर्सी पर बैठ गया—सिगरेट जलाई और स्कॉश के गिलास से चुसकियाँ लेने लगा। दूर सागर की गोद में सूरज डूब रहा था और लहरों की पेशानियों पर ढलते हुये सूरज के रंग तमाशा कर रहे थे—'बीच' पर बच्चे दौड़-भाग रहे थे—मलाबारी जवान सिर पर 'डाब' का झाबा लिये घूम रहे थे – भेल-पूड़ी के खोंचे वाले और गुब्बारे वाले जुहू चौपाटी की ओर शाम की बिक्री के लिये चले जा रहे थे और स्त्री-पुरुषों-बच्चों की भीड़ धीरे-धीरे बढ़ने लगी थी। हवा में एक नशा था—पुकार थी—अलमस्ती थी—दिल दीवाना न होने को हो तो हो जाय और उस पर सितम यह कि जब दिल में देर की सोई जवानी नई उमङ्गें, करवटें लेने लगी हों, जैसे पूरे खिले गुलाब पर पड़ा हुआ पाला सुबह के सिन्दूरी सूरज की चमक से पिघल रहा हो और जब......और जब!

सोनिया जरा दूर पर खड़ी थी। साँझ की मन्द और नशीली हवा में उसके बाल लहरा रहे थे – मुश्की लहरों के मतवाले सैलाब की तरह और शाम के—डूबते सूरज के फ़िरोजी रंग उसके चेहरे पर एक नई चमक के साथ खेल रहे थे—उसके कानों में लटकती हुई बाली पर एक सितारा जगमगा रहा था जहाँ उसको जवान जुल्फों की मस्त घटायें घिरो हुई थीं! सोनिया की आँखें बालू के तट के पार—समन्दर की नटखट लहरों के पार – फ़िरोज़ी क्षितिज के पार न जाने किस चीज़ पर टिकी हुई थीं—न जाने किस चीज़ को ढूँढ़ रही थीं। वयःसन्धि में मन में सितारे पिघलते हैं और दृष्टि लगातार फिसलती रहती है आलोक की लहरों के चढ़ाव-उतार पर, रेशम के कोहरीले चीर में उमङ्गे उलझी रहती हैं – अबरक की सी सपनों की दुनियाँ होती है जिसमें दृष्टि के अनगिनत प्रतिबिम्ब होते हैं और पता नहीं लगता कि दृष्टि

कहीं टिकी हुई है। पृष्ठभूमि में नारियल के वृक्षों का सुरमई झुरमुट—साँझ के ढलते हुये रंग और इन पर उभरा हुआ सोनिया के जवान होते हुये शरीर का 'सिलहट'...

...समन्दर की लहरें विवेक के अन्दर मन में घुस आई और उनके शोख उभारों पर चढ़ कर कामना आसमान तक चढ़ने लगी तृप्ति के चाँद को छूने के लिये...

...दूर कहीं पर है मुझसे नीरा और उसकी स्वस्थ होती हुई नसों में जागती हुई पिछड़ी हुई जवानी की उत्तेजना और सामने ...नहीं, मैं नहीं चाहता मगर न जाने क्यों फिर भी मैं चाहता हूँ सामने खड़ी हुई सोनिया को—सोनिया को जिसने आज तक मेरी ओर कभी नहीं देखा है—मैं उसे चाहता हूँ जैसे अन्धकार भर लेना चाहता है ज्योति को अपने अंक में और अन्त में समा लेना चाहता है—समा लेता है अपने अन्दर ! मेरा पुरुष—मेरा कुन्ठित —थका हुआ पुरुष राहत चाहता है—मेरा मन जिन्दगी का शहद पीना चाहता है और शहद सोनिया के शरीर में है—सोनिया—नीरा—सोनिया—हिरत-हिरत···

...मगर फिर भी सोनिया—फिर भी सोनिया ! साँझ से रात हो गई। सोनिया का शरीर अन्धकार में विलीन हो गया और अन्धकार के बीच में रह गया विवेक अन्धकार के केन्द्र बिन्दु की तरह—जैसे सिमट आया हो अन्धकार उसके अन्दर। आकाश पर बादल थे और समा था कुछ अजीब सा पस्त और सुरमई; लहरों का उमङ्ग भरा गीत भी मन्द पड़ गया था और अब रह गया था केवल एक रुवाने वाला ढीला—उदास सा अनवरत राग—सीसा सा पिघल कर विवेक के मन पर छाने लगा था और उसकी तमाम अस्वस्थ उत्तेजनाओं को जकड़ने

लगा था मौत के से ठंडे, प्रगाढ़ आलिंगन में। क्षितिज के माथे पर कहीं-कहीं बुझे-बुझे से सितारे चमक रहे थे—बहुत दूर पर मछुवों की बस्ती—स्याह बस्ती में दीप टिमटिमा रहे थे—'बीच' लगभग खाली हो गई थी—बस कभी-कभी अन्धकार के पट पर फड़फड़ाता हुआ एक दूसरे की बग़ल में हाथ डाले हुये स्त्री-पुरुष का कोई जोड़ा निकल जाता था—कभी बिक्री से बचा हुआ माल ठेलों पर लादे, अपनी धीमी होती हुई गैस से गीली बालू पर बेतुकी परछाइयाँ तड़पती हुई छोड़ता हुआ कोई खोंचेवाला गुज़र जाता था। और फिर कुछ देर बाद सब कुछ शांत—बिल्कुल शांत—पीछे होटल में शायद सेठी अपने परिवार के साथ शहर से लौटा था—उसकी छोटी बच्ची के रोने की धीमी आवाज़ आ रही थी—सांता क्रूज़ के हवाई अड्डे पर काम करने वाला इंजीनियर, मूर्ति, अपने कमरे में तामिल के गीत का रेकार्ड बजा रहा था—हॉल में रॉजी बिलियर्ड खेल रहा होगा सूरी से, क्योंकि रह-रह कर सूरी के उत्तेजित 'वेल डन' या 'ओह डैम' की आवाज़ आ रही थी—फिर कुछ और देर और नींद के अन्धकार में धीरे-धीरे खिसकता हुआ होटल—धीरे-धीरे एक के बाद एक कमरे की बत्तियों का बुझना—फिर हॉल की बत्तियों का बुझना—होटल के दोनों गोयनीज़ बैरों का काम खत्म हो जाने के बाद अपनी भाषा में तेज़ी से बात करना—फिर—फिर कुछ समय—फिर कहीं पास—कहीं दूर रात की कोई चीख—फिर कहीं वृक्ष से टूट कर किसी छत पर नारियल के टूट कर गिरने की आवाज़ और खड़बड़ा कर किसी पंछी का जाग उठना, फिर उसको तेज़ी से काटता हुआ रात का मौन—रात का मौन और व्यक्ति के अन्तर में जागते हुये तूफ़ान जो केवल रात के मौन अन्धकार में ही जागते हैं—दिन में न जाने क्यों और कहाँ दुबके रहते हैं वह

लेकिन रात को व्यक्ति के अन्तराल में से—शरीर की गुफाओं में से बाहर निकले हुये जानवर का नग्न तांडव—भूखा—बेहाल—बेसब्र—अपनी हविस को पूरा करने के लिये अपनी प्यारी से प्यारी चीज़ के चिथड़े उड़ाता हुआ—दिन की वर्जनाओं से कुण्ठित रात को अस्वस्थ और पाशविक उत्तेजनाएँ अपने नंगे धड़ को रात के क़फ़न से ढँके हुये—यह सब और फिर *ख्वाब*—अच्छे या बुरे—लेकिन इन सब के पीछे दिल में—मन में—शरीर में दबी हुई कामना का जाग उठना—

—विवेक कुछ अलग नहीं था इन सब से ! स्मृति एक सीमा तक चलती है—विचार कुछ दूर जा कर ठहर जाते हैं—यही है मनुष्य की मजबूरी—और उसके बाद पूर्ण शून्य जिसमें दबी हुई इच्छाएँ धीरे-धीरे केन्द्रीभूत होने लगती हैं और फिर बलवान हो जाती हैं—प्रगट होने के लिये बेक़रार हो जाती हैं। उलट-पलट कर स्मृतियाँ उलझ गई थीं मन के शून्य में; विचार का सूत्र खिंचते-खिंचते क्षीण हो गया था—टूट गया था; चेतना थक कर सो गई थी और अर्धचेतना के स्याह शून्य में केवल एक बलवान वासना रह गई थी...

...विवेक एक दम कुर्सी छोड़कर उठ बैठा और पास की सीढ़ियों से उतर कर नीचे सागर तट की भीगी बालू पर आ गया। अन्धकार था—शांति थी—स्थिरता थी—दिमाग़ जल रहा था ! तट की मौन शिला पर लहरें धीरे-धीरे रगड़ खा रही थीं ! विवेक कुछ देर टहला और फिर एक जगह बालू पर लेट गया।

अब हवा कुछ उठी थी—आसमान में बादल कुछ लहराये थे—नारियल के पत्ते कुछ काँपे थे और फिर भापण रूप से रग-

ड़ने लगे थे उस पागलपन से कि जैसे दो जवान शरीर, शरीर के आवेश के कारण एक दूसरे से रगड़ कर, एक दूसरे को तोड़ डालना चाहते हों—लहरों का उन्माद जाग उठा था और वह बालू को काटती हुई तट पर चढ़ी आ रही थीं—

अन्धेरे की आत्मा की तरह एक छाया विवेक को सामने से गुज़रती दिखाई पड़ी और ख्वाब की तरह मद्धिम, कुछ दूर जाकर अन्धकार में फिर खो गई। यन्त्रवत सा विवेक पड़ा था—जेब से उसने सिगरेट निकाली और उसे जलाया ! दियासलाई की पीली लौ गहरे अन्धकार में बिजली की तरह कौंध उठी और उसके बुझ जाने के बाद विवेक की आँखों के आगे नीले—फ़िरोजी गोले कुछ देर तक नाचते रहे। सिगरेट के कश से निकला हुआ धुँआ बोतल में भरे हुये जिन की तरह आज़ाद हो कर शून्य में अपना आकार बढ़ाने लगा—फेन से भरी लहरें बालू काटती रहीं—नारियल के पत्ते उत्तेजना में एक दूसरे से रगड़ते रहे—हवा शून्य के अन्तराल को मथती रही—

छाया लौटकर विवेक के सामने आकर टिक गई—

"Can I have a light please ?"

विवे कछाया को देख रहा था—सुन रहा था उसने क्या कह पर बोला नहीं—

"Sir ?"

"बैठ जाओ !"

साया बैठ गया विवेक के पास, बालू पर—

"Light—if you please !"

"हूँह: ! रोशनी चाहिये !"

"आप क्या कहता है ?"

"कुछ नहीं—कुछ नहीं !" विवेक सोच रहा था : इस भट
हुई छाया को रोशनी चाहिये—उसे जिसे शायद हमेशा अन्ध
में भटकते रहना था !

मन के उस भ्रामक शून्य का अन्त हो गया था। अतीत
ऊबा हुआ—निश्चयहीनता के सुरमई सागर में गोते लगाता
मन फँस गया था मात्र पाशविक अस्वस्थता के दलदल में—
हर स्वस्थ और सुसंस्कृत विशेषता को त्यागकर व्यक्ति मात्र
हो जाता है—अन्तराल की कुत्सित उत्तेजना निर्बाध होकर
चढ़ आती हैं और व्यक्ति बन जाता है कीचड़ में कुलबुलाने
कीड़ा। विवेक खो जाता है—चेतना मर जाती है और
अधीर हो उठता है अपनी गन्दी से गन्दी प्रवृत्तियों को पूरा
के लिए। और विवेक के अन्तरमन में भी एक ही चीज़ उथल-
कर रही थी जिसने उसके अन्तर को मथते-मथते शून्य कर
था—नीरा की दूरी—प्रकाश की मृत्यु और सोनिया का वह
का मांसल आकर्षण—

"बैठ जाओ !" विवेक ने जेब से एक सिगरेट निकाल कर
लड़की को दी और दियासलाई, उसे जलाने के लिए। मुँह में
रेट लगा कर लड़की ने उसे जलाया और दियासलाई की बत्ती
रोशनी ने अन्धकार को काटते हुये, पलक मारने भर के सम
लिए उस लड़की का चेहरा आलोकित कर दिया—होठों पर
पुती हुई लिपस्टिक—बदन पर नीचे कटे हुये फ्रॉक में से
नजर आते हुये वक्षों की उभरी हुई गोलाइयाँ—

दियासलाई बुझ गई। फिर मौन—फिर मौन—अन्तरा

"Can I go now ?"

"No !"

हाथ पकड़ कर विवेक ने उस लड़की को खींचकर अपने पास गीली वालू पर लिटा लिया।

औरत का यह रूप विवेक ने निकट से कभी नहीं देखा था। उसने जाना था केवल नीरा को, जो थी जल सी निर्मल और राग सी कोमल और जिसका प्यार पवित्र था—निर्द्वंप—कमल की तरह और दूसरी थी सोनिया—रूप की मदहोश सुर्ख कली—ज़ैतून की नाजुक शाख—जो उसकी कल्पना में शराब के फ़िरोजी बुलबुलों के घूँघर पहन कर उमङ्ग का नृत्य किया करती थी और तीसरी थी यह लड़की—गन्दी, बदसूरत, उत्तेजक, जिसके स्पर्श मात्र से अन्तर में वासना की गदली धार फूट पड़ती है, जो व्यक्ति के शरीर की अन्धेरी गहराइयों में छिपे हुये जानवर को खींच कर बाहर निकाल सकती थी—जो पाप का काला फूल थी, जिसकी खुशबू से शरीर में कोढ़ फूट पड़ता है—जो विवेक के पास लेटी हुई थी—जिसके शरीर का स्पर्श विवेक के शरीर में धीरे-धीरे शोले भड़का रहा था—

—कहीं दूर पर एक वड़ी सी लहर उठी—गरजती हुई आई और वालू को गहरा काटती हुई पस्त हो गई—

—आवेश में विवेक ने लड़की को पागल की तरह अपनी तरफ़ खींचा—लड़की खिंच आई—उसका समर्पण शव का सा समर्पण था—विवेक की साँस तेज़ हो गई—आसमान में बादल छँट गए और आधे चाँद का आलोक वातावरण में भर गया—लहरों के माथे पर दीप जल उठे—कोहरे के अङ्ग में फुलझड़ियाँ छूट पड़ीं और नारियल के झुरमुटों में रुपहली गोट लग गई—

भीगी हुई बालू अबरक के पत्तं की तरह चमक उठी। विवेक के हाथ अन्धे आवेश में उठे लेकिन गले में पड़ी हुई किसी चीज में उलझ गये और हाथ में थमा हुआ 'क्रॉस' चाँद की बारीक रोशनी में चमक उठा।

धातु के 'क्रॉस' पर हाथ जकड़ गया और उसके किनारों से हाथ कटने लगे—'क्रॉस' जिसकी पूजा होती है बड़े-बड़े गिरजाघरों में—जिस पर जकड़ दिया था विधर्मियों ने ईसा को और जहाँ उस महामानव ने सत्य के लिए—दया के लिए—प्रेम के लिए—न्याय के लिए जान दे दी थी—जो प्रतीक है मानवी आदर्शों का—वही 'क्रॉस' आज इस वेश्या के गले में पड़ा हुआ था—इस क्रॉस पर ईसा मसीह नहीं एक मामूली गोरनाज वेश्या जान दे रही थी—सत्य के लिए नहीं—न्याय के लिए नहीं—मानवी आदर्शों के लिए नहीं, मजबूरी के लिए—भूख के लिए—बेहालो के लिए—उन माई-बहनों-बच्चों के लिए जिन्हें सुबह को रोटी रात के व्यभिचार से मिलेगी—

हाथ में भिंचा हुआ 'क्रॉस' चाँद की ठंढी आभा में चमक रहा था। विवेक का खून जम गया—लड़की के बुझे हुये चेहरे पर कोई भाव नहीं था—उसकी आँखों में निश्चल शून्य था और मौन स्वीकृति थी—इस शहादत को कौन पूजेगा? विवेक कुछ रुका। फिर जेब से दस रुपये का नोट निकाल कर और उसके सीने पर उसे रख कर वह उठा और तेजी से होटल की सीढ़ियों की तरफ बढ़ गया।

१

आसमान पर से हल्के-हल्के ढलक कर, स्याही झीनी पड़ने लगी और सितारे मद्धिम—अब सुबह होने में उतनी देर नहीं !

सुबह होगी ?

हाथ-पाँव देर से ठण्डे होकर सुन्न पड़ गए थे—मुँह में एक बासीपन—एक सीठापन था—पेट के अन्दर के शून्य में हवा घूम रही थी और रह-रह कर जी मितला उठता था ! आज की नहीं—यह हालत चार रोज़ से थी ! चार रोज़ ऐसे, जिनमें चारपाई से उठ कर बूँद भर पानी भी नहीं पिया था—कुछ खाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। रात के अन्धेरे के बाद दिन का उजाला आता था और फिर रात का अन्धेरा—चारपाई से उठकर बत्ती भी नहीं जलाता था विवेक ! जब ग़म हो तो अन्धकार की अनन्तता में सन्तोष मिलता है; और दिन बहुत बुरा लगता था विवेक को ! और रात में भी बराबर के कमरे से आती हुई हँसी-मज़ाक की आवाज़—उनके क़हक़हे जो खाते-पीते-कमाते हैं—सफल हैं और फिर बत्ती बुझ जाने के बाद बराबर के कमरे की—दोनों तरफ़ के कमरों में बसने वाले पति-पत्नियों के जोड़ों का प्रेमालाप ! चार दिन से न खाना, न चाय, न सिगरेट, न पानी लेकिन बराबर के

कमरों से आती हुई उस रोज़ के प्रेमालाप की फुसफुसाहट और फिर ठण्डे—भूले—कड़ुवे खून में शरीर को बुझती हुई आग के शोलों का फूट पड़ना—फिर धीरे-धीरे राख से दब कर राख हो जाना—फिर ख्याल सोनिया का—

सोनिया !

मन के शून्य की नीलाहट में बहुत सी फुलझड़ियों का एकदम छूट पड़ना—केले के अंगूरी और संगमरमरी गठे हुये तने और उनके दूब से हरे और चौड़े पत्तों पर ओस की बूँदों का अछूते-अछूते फिसलते रहना—फिर रस की झरी की तरह एक सिन्दूरी मछली की आँख में समा जाना—स्याही के कँटीले झुरमुटों में शोख़-चटख़ीली सुर्ख़ कलियों का फूट पड़ना—सुनहरी केंचुल के साँप का अपनी दुम के बल पर सतर खड़े हो जाना और उसका फैला हुआ फन—एक मस्त हाथी की सूँड़ कमल के तनों को तोड़े डाल रही है और बिखरी हुई पङ्खड़ियाँ पानी की सतह पर भटक रही हैं—

एक ख्वाब—सोनिया !

एक ख्वाब—सब कुछ ! राम की गहराइयों में डूबे हुये विवेक के लिए यह सब कुछ ख्वाब सा ही तो था—तमाम अतीत—कुछ उजला—कुछ स्याह—कहीं आँसुओं से तर—कहीं मुस्कराहटों से लबरेज़—कभी उमङ्गें परत—कभी निराशा—कभी आशाओं के अनवरत प्रभात—कभी अरमानों और उत्तेजनाओं की बेबसी से छूटते हुए फ़व्वारे—लेकिन सब कुछ बीता हुआ—सब कुछ एक याद—एक ख्वाब और अब केवल वेदना—केवल भूख—केवल स्मृतियों की धुँधलाहट । समय न टिका—क्षण स्थिर नहीं हुआ—चाहे वेदना-चाहे उमङ्ग—मगर सब बीता हुआ और केवल एक भारी

अतीत और वर्त्तमान कुछ नहीं, कुछ भी तो नहीं—सुई की नोक पर लड़खड़ाता हुआ एक भ्रम और भविष्य क्षितिज की तरह निःसीम और अनिश्चित—जिसकी परिधि का कोई छोर नहीं। कहते हैं स्थिरता में निर्वाण है—कि उसमें एक अनन्तता है जिसका भगवान एक अनुरूप है लेकिन कहाँ वह ठहराव—बराबर ही तो एक रगड़—एक रफ़्तार—एक यात्रा—बराबर ही चलते रहना और चलते रहने का वह भयङ्कर रूमान—उस कवि की पंक्तियाँ स्मृति में धुँधाली हैं लेकिन सार है कि नदियाँ अपनी अनन्त यात्रा से सागर का रूप प्राप्त करती हैं और मेघ का आवारापन पृथ्वी को गर्भ प्रदान करता है! बादल रगड़-रगड़ कर विद्युत को जन्म देते हैं—चट्टान का दिल जब फटता है तो निर्मल जल की धार कसमसा कर फूट पड़ती है! और लोग कहते हैं कि स्थिरता में भगवान मिलता है—हाँ—स्थिरता में केवल भगवान ही मिल सकता है और यह संसार, इसलिए, भगवान की नहीं शैतान की रचना मालूम होती है। तो सब कुछ ख्वाब—एक तेज़ी से चलता हुआ छाया चित्र जिसका प्रक्षेपण लगातार चेतना पर होता रहता है—पिछले चित्र धुँधले पड़ते जाते हैं और नए उभरते आते हैं और बराबर सब कुछ एक विशाल अन्धकार का भाग बनता जाता है—

हॉल में तालियों की तड़तड़ाहट गूँज उठी और छत पर टंगे हुये बेशुमार कुमकुमे खिलखिला पड़े। तारीफ़ के शब्द—सफल अभिनेताओं के और निर्माताओं और दिग्दर्शकों के मुँह से और हसीन तारिकाओं के मुँह से—एक पल को उन शोख़ आँखों में कुछ आदर—कुछ निमन्त्रण एक पल को क्योंकि बाद को तो नीचे से नीचे तबक़ों का स्वार्थ और आचरण—स्क्रीन पर चमकने वाली प्यार या बलिदान या शराफ़त की देवी का सोना पुँछ जाता है। लेकिन जब बम्बई के सर्वोत्तम छविगृह "पैरेडाइस" में विवेक की

लिखी हुई कहानी का "इन्साफ़" नामक चित्र 'रिलीज़' हुआ तो सिनेमा घर के सामने मोटरों की बारात खड़ी थी और विवेक के गले में गुलाब महक रहे थे। हर ज़बान पर सिर्फ़ 'वाह-वाह'— कैमरा के फ्लैश-बल्बों का कई बार बिजली की तरह चमक कर घुप हो जाना—सिने-पत्रिकाओं के प्रतिनिधियों को 'इन्टरव्यू' देना— 'ऑटोग्राफ़' के लिये भीड़—और उसके बाद बौछार कहानी के कॉन्ट्रैक्टों की—बौछार—

और उसके बाद, अचानक, नीरा का भवाली सैनिटोरियम में मर जाना!

इतनी गहरी चोटों की स्मृति पर व्यक्ति कभी-कभी मुस्कुरा पड़ता है क्योंकि इतनी बड़ी चोट सहने के बाद आदमी और कर भी क्या सकता है?

आज रात को विवेक को सब कुछ याद आ रहा था। जब मौत क़रीब होती है तो जिन्दगी ख्वाब के कपड़े पहिन कर एक बार अपनी मलक दिखा ही जाती है। और मर तो रहा ही था विवेक—दस दिन का फ़ाक़ा और उसमें से चार दिन ऐसे जिनमें पानी तक नहीं पिया जा सका। अब और दम नहीं था विवेक में जीने का। और अपनी जिन्दगी के आख़िरी लमहों में, अपनी आदत के अनुसार, विवेक सोच रहा था—बड़ी तटस्थता से—गुज़रे हुये कल—परसों या उसके पहले के दिनों के बारे में—

...कितना कुछ गुज़र चुका है उसकी आंखों के सामने से—कितने भिन्न रूप बदल-बदल कर जिन्दगी उसके सामने आई है। जिन्दगी को इतना देख सकना वरदान है या अभिशाप व्यक्ति यह नहीं जानता लेकिन चेतना पर जब आंसु की बौछार पड़ती है, जब मुस्कुरा-

हटें उसे गुदगुदा देती हैं या जब संघर्षों के तीखे तूफ़ान, वाह्य को भस्म कर देते हैं तब मनुष्य के वास्तविक व्यक्तित्व का जन्म होता है और उसका यही व्यक्तित्व निर्माण कर पाता है—निर्माण जो कहा जाता है कि केवल भगवान का गुण है । और विवेक के ऊपर भाग्य ने या परिस्थिति ने यह सब खेल खेले थे—संघर्ष के बेरहम तूफ़ानो के बीच में पला था विवेक और उसका अन्तर मोम की एक शिला था। जिस पर परिस्थिति के तेज़ नाखूनों ने ज़िन्दगी की कहानी खरोंदी थी। अपनी सब सीमाओं के बावजूद विवेक सन्तुष्ट था अपने दायरे में—ज़िन्दगी की आम मजबूरियाँ, खुशियाँ, ग़म उसकी अनुभूतियों से जगमगा कर कला का जामा पहन लेते थे लेकिन पिता के कर्ज़ ने विवेक की उसकी छोटी सी दुनियाँ के बाहर ढकेल दिया और इस अरमान ने कि अपनी प्रियतमा नीरा के बुझे हुये माथे पर वह पूनम के चाँद का कुमकुम लगा सकेगा । कोई बड़ी तो नहीं थी उसकी यह आकांक्षा ! और वह बम्बई के जगमगाते हुये रेगिस्तान में चला आया जहाँ सुनहरे वृक्षों के साये में इन्सान भूख से दम तोड़ देता है—जहाँ मुस्कराते हुये घरों के पीछे, जिनमें मायें अपने नन्हों को लोरी गा कर सुलाया करती हैं, वह बस्ती है जिसमें मीलों तक सड़क के दोनो ओर तंग, बदबूदार और अँधेरी कोठरियों में नारीत्व के कलंक और उसकी कोढ़ की नुमायश होती है। परिस्थिति ने कभी उसे उठाया था—कभी गिराया था—कभी रौंद डाला था उसे लेकिन हर बार वह उस मानसिक या शारीरिक संतुलन पर वापस पहुँच जाता था जो ज़िन्दा रहने के लिए आवश्यक है और फिर वही क्रम ! जब आस की किरण डूब रही थी तब प्रकाश मिला था उसे और फिर प्रकाश सितारे की तरह टूट कर खत्म हो गया था—शायद ज़िन्दगी में केवल

उसका यही एक काम था कि विवेक को वह निकाल कर ला सके अँधेरे से उजाले में—हाँ—सांसारिक रूप से शायद इसका और कोई दूसरा अर्थ हो भी नहीं सकता लेकिन कुछ ऐसे होते हैं जिनके नाश में और जिनकी असफलता में उनके जीवन का पूरापन होता है। और इस तरह विवेक के पास वह साधन आ गये कि जिनसे वह पिता का कर्ज निबटा सके और भेज सके नीरा को सैनिटोरियम में। धीरे-धीरे शरीर की स्वस्थता पर जो साया मन का और चिन्ताओं का मँडरा रहा था वह मिटने लगा—जैसे जब तेज़ जाड़े के बाद बसन्त आता है तो बर्फ कट कर पिघलने लगती है—बड़ा-बड़ी चट्टानें पानी-पानी हो जाती हैं और नदी की जवानी बांधें तोड़ कर उमड़ पड़ती है—तुषार के कफन को फाड़ कर शाखों पर सौरभ जाग पड़ता है और टेसू का फूल—धरती के जवान अरमानों को सुर्ख लौ की तरह चटख उठता है। जब यह सब हुआ तो विवेक के शरीर के अन्दर बहता हुआ खून कैसे और क्यों ठंडा और उदास रहता। सोनिया के शरीर में उस फूल का सा अछूतापन था जो सिर्फ उस एक बारीक पल के लिये होता है जिसमें जिन्दगी कली से फूल बन जाती है—प्रकृति का वह विरोध व्यवधान—जिसका रहस्य अनन्त है और फिर बहुत क्षणिक! विवेक के मन में वह जादू समाने लगा, उसके इरादे के खिलाफ—वह लड़ता रहा अपने आप से लेकिन शरीर की स्वस्थ उत्तेजनाओं से बहुत हल्का बैठा भावुकता का पक्ष—हालांकि नीरा के लिए विवेक का प्रेम मात्र भावुकता नहीं था। और सोनिया! कभी नज़दीक नहीं आया विवेक सोनिया के—कभी छुआ नहीं विवेक ने उसे लेकिन मुश्क की गंध की तरह वह उसके मन में बसी हुई थी—उसका जुनून सा नर्म और संगमरमर सा चिकना कौमार्य आग की सिन्दूरी

वह उस अवस्था में अपने ख्वाबों से कुछ इतना उलझा रहता है कि उसे दूसरों के बारे में कुछ भी सोचना की कभी आवश्यकता नहीं मालूम होती! उसकी ख्वाहिशें धरती पर नहीं आकाश में—सितारों की दुनियाँ में अपना सन्तोष खोजती हैं—कोहरे के बारीक तार दृष्टि को बाँधे रहते हैं और धुन्ध के झुरमुटों में सितारों के जुगनू जगमगाया करते हैं। यह धारणा पूर्णतया: भ्रमात्मक है कि वयः सन्धि में व्यक्ति सबसे अधिक भावुक होता है—वह तो तब भावुक भी नहीं होता—उसे सबसे अधिक अपने से और उसके बाद अपने सपनों से प्यार होता है। वह तो जब जिन्दगी की आग चमेली की खुशबू और जुगुनुओं की चमक जैसे नवयौवन को जला कर राख कर देती है तब तमाम भरम टूट जाते हैं और व्यक्ति अपने आप को अकेला पाता है—स्वयं अपने आप से भी बहुत दूर और तब घबड़ा करवह साथी चाहता है, तब जो लगाव होता है वह जिन्दगी की तरह तल्ख और मौत की तरह मीठा होता है—तब होता है व्यक्ति भावुक—शब्द के सही अर्थ में! और विवेक बहुत अकेला था—नीरा को जानने के पहले उसका शरीर और उसकी आत्मा दोनों अकेले थे; नीरा को जानने के बाद आत्मा को तो साथ मिल गया था लेकिन शरीर को नहीं और शरीर को जब साथ की जरूरत होती है तब तूफान आ जाते हैं। लेकिन संघर्षों को सताया विवेक और अपने में डूबी हुई सोनिया कैसे और किस स्तर पर मिलते। विवेक अपने ग़मों से—अपनी कुंठाओं से खामोश था और सोनिया अपने सपनों के कारण! बस—ढलती साँझ की पृष्ठि भूमि पर उभरे हुये सनिया के शरीर के 'सिलहट' उसकी कल्पना में आग के घुँघरू बांध कर नृत्य किया करते थे और कभी वह देखता था कि गिरजे में पादरी के सामने वह खड़ा है और कोहरे जैसी

सफ़ेद पोशाक में मुँह पर एक नक़ाब डाले सोनिया खड़ी हैं लेकिन धूप की पहली किरण के साथ ख्वाब टूट कर बिखर जाते थे।

और नीरा मर गई थी भवाली के सैनिटोरियम में! नीरा की मृत्यु सपना नहीं था!

मृत्यु के कुछ दिन पहले नीरा का पत्र आया था—अन्तिम पत्र—

—अब तो लग रहा है, मेरे प्राण, कि देह साथ न देगी। अन्धेरे के पहाड़ रोशनी की किरण को दबाकर कुचल ही डालेंगे! लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या रोशनी की किरण उतनी क्षीण है? एक समय था जब देह तो थी लेकिन अन्धकार की कारा की तरह और आलोक की एक भी रश्मि भी नहीं थी—उदास था जीवन क्योंकि ज़िन्दगी के पीछे कोई मक़सद नहीं था और जब मक़सद नहीं होता तब ज़िन्दगी मौत से गई गुज़री होती है। आसमान से कोलतार की बूँदें चूती थीं लेकिन तुम आये जब जीवन में तो जैसे एक नया सवेरा आया—एक नया सूरज जागा जिसने पहाड़ के माथे पर ठहरे हुये हिम को ही नहीं चमकाया, धूल के कण को भी रोशनी से जगमगा दिया। और मेरा जीवन तो धूल के कण से ज्यादा प्रकाशमान हो गया क्योंकि सूरज तो अस्त हो जाता है और क्या बर्फ़ के ताज—क्या रेत के फैलाव, सब अन्धकार से सन जाते हैं लेकिन तुमने जो रोशनी मुझे दी है वह अस्त होने वाली नहीं—उससे आलोक पाकर मेरा जीवन एक चमकदार सितारा बन गया है जो रात बीतने पर ओझल भले हो जाय—चमकता सदैव रहता है। तुम्हारे प्यार का वरदान अमर है—विवेक—इसलिये देह का मोह नहीं केवल अफ़सोस यह है इस प्यार का ऋण न चुका सकी। इसलिये मेरी केवल एक इच्छा

यह है कि तुम्हारी जिन्दगी मेरे बिना सूनी न रहे और प्रीत के अधिकार से तुमसे वचन चाहती हूँ यह...

—बराबर में सेठी के कमरे में बच्ची रो पड़ी। स्मृति का तार टूट गया—पेट में एक ज़ोर की ऐंठन हुई और लगा कि दम टूट जायगा।

—अब और क्या हो सकता है! तुम्हारी दौड़ पूरी हो चुकी विवेक—सारी भाग-दौड़, उछल-कूद, भय-चिन्ता, शङ्काएँ—हर चीज़ का अन्त है—आखिर जिन्दगी की दौड़ केवल इतनी ही है—पहाड़ गिरें—बिजलियाँ टूटें लेकिन अन्त में केवल मौत की स्थिरता! सब हाहाकार व्यर्थ—सब चिन्ताएँ फ़िज़ूल! जिन्दगी पूरी हो चुकी पर जीने का मतलब मेरी समझ में आया? ऊँहूँ! कुछ और घण्टे खिंच जाएँ शायद—एक या दो या चार या एक दिन—मगर क्या पा सकूँगा उस मतलब को जिसे लेकर जिया हूँ अब तक—उफ़! जिन्दगी की जिन्दगी से इतना लगाव क्यों है—हर पल पर मौत से इतनी लड़ाई क्यों जब मालूम है कि अन्त में केवल मौत है—केवल मौत! जिन्दा रहने के लिए कितनी ज़िल्लत कितने आँसू—कितने ग़म...

कराह उठा विवेक! जिन्दगी के लिये कितनी ज़िल्लत—कितना लालच—

१०

और अपनी ज़िन्दगी के ग़मों और खुशियों से प्रेरणा लेकर, विवेक जो उपन्यास लिख रहा था उसमें उसने लिखा—नीरा की मृत्यु के बाद—

"प्रवाह के वेग से जब कगार टूट कर गिरता है तब उसके साथ फूलों से लदा हुआ पेड़ भी ! पोत लहरों पर टिकता है केवल लंगर के सहारे वर्ना तो वह डोलता अनन्त रूप से, टकराता, टूटता और डूब जाता है। जीवन को आधार चाहिये टिकने के लिये अन्यथा अपने अस्तित्व के शून्य का वह मुक़ाबला नहीं कर सकता और उसे अपने को मौत के हवाले करना पड़ता है। रोने के लिए किसी का कंधा चाहिए जिस पर सिर टेक दे, किसी का दामन चाहिये जिसे तर कर दें; हँसने के लिये किसी का साथी उल्लास चाहिये और सपने देखने के लिए किसी का कोमल वक्ष ! आँसू थामने के लिए किसी का गरेबान न हो तो आँसू पत्थर हो जाते हैं, किसी का सह उल्लास न हो तो हँसी का क़हक़हा स्वयं अपना व्यंग बन जाता है और रात अँधेरी हो जाती है जब किसी का वक्ष नहीं होता।......

उसके बाद कुछ न लिखा विवेक ने क्योंकि जब वेदना अपनी सीमा तक पहुँच जाती है तब व्यक्ति सहम कर खामोश

हो जाता है—गूँगा हो जाता है! और फिर विवेक की ज़िन्दगी का अफ़साना भी तो अभी अधूरा ही था!

तो जब नीरा मर गई तो उमंग छोड़ दी विवेक ने, साहस छोड़ दिया और कुछ करने की प्रेरणा भी! जो रुपया उसने पहले 'कॉन्ट्रैक्टों' से कमाया था उसका बहुत अधिक हिस्सा जा चुका था नीरा की बीमारी में और पिता के कर्ज़ निबटाने में——केवल थोड़ा ही तो बचा था और वह अपने लिए कुछ अधिक तो नहीं था। इसलिए जब बाद को दूसरे प्रड्यूसर उसके पास कहानी प्राप्त करने के लिए आये तो विवेक ने सूनी आँखों से उत्तर दे दिया कि अब उसके पास कहानियाँ नहीं हैं और बेचने के लिए और इस रीत से अनभिज्ञ वह प्रड्यूसर मन में हैरान हो कर वापस लौटते रहे! जुड़ी हुई पूँजी धीरे-धीरे समाप्त होने लगी और लगभग साथ-साथ यह हुआ कि रुपया भी खत्म हो गया और निराश होकर प्रड्यूसरों ने भी आना बन्द कर दिया।

विवेक का एक दूसरा जीवन शुरू हुआ जो मौत से भी गया बीता था।

उस दिन सुबह विवेक के पास जेब में अन्तिम पाँच रुपये थे! सोचा यूँ चलेंगे भी यह कितने दिन? कई दिन से बम्बई नहीं गया था और अब कुछ समय बाद वह जाने योग्य भी तो नहीं रहेगा—शायद कभी उठकर वह वहाँ न पहुँच सके—तो आज अन्तिम विदा क्यों न ले ली जाय उस नगर से जहाँ उसके साथ इतना कुछ हुआ था।

लगभग बारह बजे वह चर्चगेट जाने वाली बिजली की गाड़ी पर साँता क्रूज़ स्टेशन से बैठा। दफ़्तर जाने वाले बाबू लोगों की भीड़ तब तक छँट जाती है और डिब्बे उतने भरे नहीं रहते। विवेक के डिब्बे में भी अधिक लोग नहीं थे—फ़र्स्ट क्लास का डिब्बा

था ! विवेक के मासिक टिकट की मयाद अभी तीन-चार दिन बाद खत्म होने वाली थी। जिस सीट पर वह आ कर बैठा उसके सामने दाहिने क़तार की सीट पर खिड़की के पास एक जोड़ा बैठा था। पुरुष होगा लगभग २६-२७ वर्ष का और लड़की होगी कोई २२-२४ वर्ष की। पता नहीं विवेक को क्यों यह जोड़ा बहुत आकर्षक लगा। युवक किशमिशी रंग की शार्क-स्किन का सूट पहिने था और 'क्रीम' कलर की कमीज़ पर लाल टाई लगी थी जिस पर बहुत सी सफ़ेद गोल-गोल बूँदें पड़ी थीं। चमकदार बाल तरतीब से कढ़े हुये थे, चेहरा निहायत मुलायम—मासूम—भोर की भीगी पत्ती की तरह जिसे दिन की धूप ने अभी जलाया नहीं; कभी जलायेगी भी ? लगता नहीं क्योंकि दोनों उस वर्ग के थे जिन तक कभी संघर्ष की आँच नहीं पहुँच सकी है। क्रोध आया विवेक को—एक भीषण ललकार सी कि ऐसा क्यों है कि वह और उसका समस्त विशाल वर्ग जले भूख और संघर्ष और बेबसी की आग में और सामने बैठे हुए व्यक्ति के ड्राइंग-रूम में रखे हुये गुलदान का फूल भी न मुरझा पाए लेकिन न जाने क्यों क्रोध ज्वालामुखी नहीं बन सका और सामने बैठे हुए युवक और युवती से वह घृणा नहीं कर सका—यही नहीं, उसके दिल में एक अपार स्नेह का स्रोत खुल पड़ा इन दोनों के लिए—एक ऐसी भावना जिसने उसके मन में दहकते हुये अंगारों को रेशम की तरह ढँक लिया ! उसे लगा कि उसका छोटा भाई कोई होता तो वह उसको इतना ही ताज़ा, सुखी और संतुष्ट देखना चाहता—उसे लगा जैसे वह अजनबी जो उसके सामने बैठा है उसका छोटा भाई है और विचारों की उथल-पुथल में उसको हल्का सा आभास हुआ कि स्नेह का अमृत कितना अधिक भारी है क्रोध के हलाहल से।

धोवी तालाव, फ़ोर्ट, गेटवे, सड़कें, मकान, दूकानें, दफ़्तर, आदमी लेकिन सव में मिल जाने की उत्तेजना नहीं—एक तटस्थता सी जैसे अभी से—मृत्यु के पहले से ही वह अपने वातावरण से दूर हट गया हो—जैसे पत्थर की यह स्थूल दुनिया एकाएक शीशे की हो गई हो जिसके आरपार वह देख सके—ज़िन्दगी में ही विवेक अछूता सा हो गया था ज़िन्दगी से। शायद विवेक पहले ही विदा ले चुका था उस संसार से जिससे वह विदा लेने आया था और विवेक को लगा कि अगर यही विदा थी तो विदा लेते समय दिल नहीं टूटता—दिल उसके वहुत पहले ही कभी टूट जाता है।

और रात जब फैल गई नगर पर, तो विवेक जुहू वापस लौट गया।

११

बम्बई से अन्तिम विदा लेकर लौट आने के बाद यह पाँचवीं साँझ थी।

होटल से निकल कर कहीं भी जाना उसके लिए सम्भव नहीं था क्योंकि घर से बाहर क़दम रखने के लिये पैसे की जरूरत होती है और जिन्दा रहने की अभिलाषा की! दोनों में से यदि एक भी न हो तो घर से बाहर निकलने की न तो आवश्यकता होती है, न क्षमता। और विवेक के पास इन दोनों में से कुछ भी नहीं था।

विवेक तो उस दिन शाम को यह इरादा करके लौटा था अपने कमरे में कि अब वह पलँग पर पड़ कर मौत की प्रतीक्षा करेगा! और इन पाँच दिनों में दिन हुए थे—रातें हुई थीं—सूरज उगे थे और डूबे थे और रातें धीरे-धीरे काली पड़ती जा रही थीं—लहरें खामाखा! जब दिन होता था तब सूरज की किरणें कमरे में बर्बस आ ही जाती थीं—विवेक उन्हें रोक तो सकता नहीं था। लेकिन रोशनी की यह खिलखिलाहट उसे अच्छी नहीं लगती थी और वह पलक मूँदे पड़ा रहता था। और बराबर के कमरे में जब सेठी के यहाँ नाश्ते के लिए आता था तो वह मुट्ठियाँ भींच कर उसकी खुशबू से अ पागल हो जाने से रोकता था। क्योंकि मन को

बराबर सेठी के कमरे में बात चीत और क़हक़हे चल रहे थे—ज़रूर उसका वह लँगड़ा दोस्त आया होगा—क्या नाम है उसका...याद नहीं आता लेकिन कितना आकर्षक है वह और जब वह आता है तो सेठी की बीवी के चेहरे पर नये गुलाब चमकने लगते हैं। और उसके साथ वह दोनों छोकरियाँ होंगी—डॉली और रूबी...और हँसी के क़हक़हे चल रहे थे और छेड़छाड़ और पीछे सेठी के 'किचेन' में सेठी का नौकर मुर्ग़ा बना रहा था और हँसी थी और पराठे तले जा रहे थे और सेठी जो कभी उसकी तरफ़ ईर्ष्या की दृष्टि से देखता था अब वह उसकी तरफ़ किसी भी दृष्टि से नहीं देखता......

....बग़ल से पसीने की एक ठण्डी धार शरीर को बर्फ़ की तरह काटती हुई कमीज़ में जज़्ब हो गई—बड़ी-बड़ी डरावनी आँखें शून्य में से उभर-उभर कर डराने लगीं—कमरे का सन्नाटा तूफ़ान की तरह चीखने लगा—विवेक चीख़ उठा लेकिन मुँह से एक आह तक न निकली—विवेक चीख़ता रहा और होठों के कोनों पर थूक के झाग जमने लगे—

—जबड़ों में दर्द हो रहा था—सारा शरीर पसीने में डूबा हुआ था—आँखों के कोनों से पानी की धार बेबसी से बह रही थी और धूल भरे हुये तकिये में जज़्ब होती जा रही थी।

चारों तरफ सन्नाटा छाया हुआ था। मुर्दे की तरह उठ कर विवेक ने कमरे की बत्ती जला दी। पागल शव की तरह वह बक्स की तरफ बढ़ा और दोनों हाथों से उसमें पड़ी हुई चीजों को उलटने-पलटने लगा—...'टन्' से कोई चीज़ कपड़ों की तहों में से बक्स के एक ख़ाली भाग पर गिरी। नये ख़ून का फ़व्वारा दौड़ पड़ा—एक दुअन्नी—जैसे अन्धेरे में सूरज फूट पड़ा हो—पीतल

का एक टुकड़ा लेकिन हज़ार ग़म—लाचारियाँ—निराशाएँ उसकी चमक में धुँधली पड़ गईं। ज़िन्दगी के बुझते हुये शोले पर जैसे हवा का एक हल्का सा झोंका गुज़र गया और शोले में से फिर एक चिनगारी उभरी और वह चिनगारी भूख की थी...

...दुअन्नी के जादू में सब ग़म—सब तटस्थता—सारी मजबूरी—सारी निराशा—सब कुछ काफ़ूर हो गया और विवेक झपट कर बाहर निकल आया।

हवा में नमी थी—सड़क पर सन्नाटा था। नारियल आहें भर रहे थे और आसमान का चाँद बादलों में छिपा हुआ था। होटल के पास की दूकानें बन्द हो चुकी थीं—आगे चलना था। शायद वैसे विवेक में दम नहीं था एक भी पग चलने का लेकिन इस वक्त उसकी गीली-भिंची हुई मुट्ठी में एक दुअन्नी थी—पेट में भूख और रगों में एक गीली सी आग! इसलिए क़दम चल रहे थे—ढो रहे थे शरीर के बोझ को! होटल आ गया था।

शायद उसे होटल कहना 'होटल' शब्द का निरादर करना हो! चौकोर बल्लियों पर छाया हुआ एक शेड था—सामने की तरफ़ एक छोटे से तख़्ते पर पान और सिगरेट की एक दूकान थी—अन्दर चार लकड़ी की बेन्चें और उनके सामने चार बड़ी-बड़ी मेज़ें—काली, खुरदरी, बदसूरत! शेड के बीचोबीच में बिजली का एक बल्ब लटक रहा था। बल्ब पीछे के चूल्हे से आने वाले एक धुएँ से मैला और पीला हो गया था और तार पर कॉयट जम गई थी। दाहिने हाथ वाली कोने की बेन्च के कोने पर मलाबारी 'डाब' वाला खाना खा रहा था—'डाब' का माथा पीछे रखा था। माथे पर नीला रूमाल बांधा था—मैला बालों का गुच्छा रूमाल के बाहर निकला हुआ नज़र आ रहा था—दाढ़ी बढ़ी हुई थी—

के चिराग़ थे—न ग़म के बुझे हुये स्याह सितारे—केवल एक महाशून्य—केवल ठिठुरा हुआ समय जो बीतता नहीं था। जैसे उसका सारा ग़म पथरा कर बुत बन गया था—ठंडा और कठोर—जो न हिलता था, न डुलता था—बस अपनी पथराई हुई ठंडी आँखों से एकटक घूरा करता था छटपटाते हुये विवेक की तरफ़! और कुछ भी यदि स्थायी हो जाय—सुख या दुख—तो इन्सान पागल हो जाता है—'

—लेकिन ऐसा होता नहीं है!

पत्थर के उस अचल बुत के जिस्म में इन्सान के लहू की हरकत थी जो रुकती नहीं है—

—और विवेक चाहे अपने ग़म में पथरा ही क्यों न गया हो लेकिन दिल अभी धड़क रहा था—नसें अभी फड़क रही थीं—साँस अभी चल रही थी और जब तक ऐसा होता है तब तक शून्य की काली गुफाओं की दीवारों पर इन्सान अपने सपनों की तस्वीरें खरोंदेता रहता है—ख़ूबसूरत या डरावनी। और हालांकि पेट में भूख की ऐंठन थी और दिमाग़ सुन्न था लेकिन ख़ून काँप रहा था शिराओं में—वह ख़ून जो ठंडा नहीं पड़ा था और ख़ून का वह साज़ एक दूसरी दुनिया थी—अजनबी! भूख, ग़म, परेशानी, लाचारी—इस सब के बावजूद वह ख़्वाब था और यह ख़्वाब उसने अपने मन या आंखों से नहीं—ख़ून से देखा—

लहरों के फ़िरोज़ी उठान पर—डूबते हुये सूरज के पिघले हुये सिन्दूरी सोने से भरी हुई वादियों के सन्तरी पहाड़ों की चोटी पर—झरे हुये चमेली के फूलों के अम्बर पर—खड़ी हुई सोनिया—कुहासे के परिधान में लिपटी हुई—उसके खुले हुये कजरारे केश जिनमें उलझी हुये कुहासे की एक लट बिजली की तरह लग रही

थी और उसकी आंखों में वही गहराइयां जिनमें गुलाब की हज़ार अनखुली कलियाँ—बेशुमार कुँवारे सितारों का लाया और उसके होंटों पर मुस्कराहट—सुबह के ताजे गुलाब की पंखुड़ी पर नीहार की एक बूँद में जगमगाती हुई सूरज की पहली किरन—और सोनिया की बाहें फैली हुई पवन की तरह उसे अपने आलिंगन में बांध लेने के लिये उन्मत्त और वह विवेक—एक बड़ी सी काली मकड़ी के जाले में उलझा हुआ, उसके पैर कसे हुये काले अजगरों की कुंडलियों में और पैरों के नीचे एक अम्बरी लावा जो पल-पल उसे अपनी छाती के अन्दर चूस रहा था—कि वहीं से से एक साँप उभरा—उसके फन पर बेशुमार मणियाँ जड़ी हुई थीं—और आदमियों की तरह अट्टहास के साथ वह हँसा और उसने अपना सुनहरा दंश विवेक के शरीर में दबा दिया और तड़पते हुये विवेक के भीतर से विवेक निकला और जुड़ गया प्रतीक्षा में काँपती हुई सोनिया से और सिन्दूरी धूल के तूफ़ान ने इस दृश्य को ढांक लिया—यह पवन और पराग का अभिसार था—

और चेतना जब लौटी तो विवेक के पेट में ज़ोर की ऐंठन थी—जलन थी मानों पेट में भरी हुई खाली गर्म हवा उसे अन्दर से जला रही हो और बेआवाज़ वह कराह रहा था।

१२

समय बीता !

पल—घड़ियाँ—घण्टे—दिन ! सूरज उगे और डूबे और फिर उगे—क्योंकि सूरज डूबता नहीं है और घटे हुये चाँद का आकार बढ़ता रहा—

—शायद समय के बीतने से विवेक का अब कोई सम्बन्ध नहीं था क्योंकि सूरज के सोने को भोगा नहीं उसने और चाँद की किरनों ने उसके तपते हुये माथे को सहलाया नहीं, उसके उलझे हुये बालों को छुआ नहीं लेकिन विवेक सम्बद्ध था उस महाशून्य से, जो सनातन सत्य है, साँस के धागे से। इसलिये उसकी यातना बढ़ती जा रही थी—समय का माप यही था—स्थिर तो नहीं था—बढ़ती जा रही थी और भूख के शिकञ्जे उसके शरीर को भींचते जा रहे थे—

क्या कोई अन्त नहीं ?

नहीं—

नहीं—

नहीं—

नहीं—नहीं—नहीं...

भूख की असह्य पीड़ा से तड़पता हुआ उसका शरीर काँप उठा दिल के उमड़ते हुये आँसुओं के कारण और आँखों से रिस-रिस कर उसकी यातना बहने लगी दस रोज़ की बढ़ी हुई दाढ़ी में अपना मार्ग बनाती हुई।

और अपने कमरे के सन्नाटे में विवेक चीख उठा अपने मन के अन्दर—

—भगवान, जिसमें मैं विश्वास नहीं करता, अन्त कर दे मेरी इस भीषण यातना को क्योंकि इसका जो अन्त होना है वह निश्चित है—मैं तुमसे रहम की भीख नहीं माँग रहा हूँ—मैं मौत माँगता हूँ तुमसे और अगर तुममें ज़रा भी कोई शक्ति है तो मेरी आवाज़ सुन लो...

...लेकिन बहुत दूर बसता है भगवान और इन्सान की आवाज़ उस तक पहुँच नहीं पाती!

और विवेक के निर्जीव शरीर में क्रोध की खौलती हुई तरल आग दौड़ गई और दाँत भींच कर उसने कहा—तू कुछ नहीं—बेरहम—और अगर तू कुछ है तो मैं तुझे स्वीकार नहीं करता—मैं थूकता हूँ तुझ पर—इन निर्जीव हाथों से मैं तुझे चूर कर सकता हूँ क्योंकि मैं इन्सान हूँ और शक्ति केवल इन्सान में है। मैं तेरी मदद नहीं चाहता—मैं किसी की मदद नहीं चाहता—मैंने कभी किसी की मदद नहीं चाही—मैं अपने पैरों पर खड़ा हो सकता हूँ—खड़ा हो सकता हूँ—खड़ा हो सकता हूँ—

—विवेक खड़ा था हालाँकि पैरों में उसके जान नहीं थी। और बाहर जब वह निकला तो सुबह की धूप फैली हुई थी और वह धूप उसकी आँखों में चुभ रही थी और उसकी आँखों में दर्द हो रहा था उससे। लेकिन अपने कमरे के बाहर वह

निकला और चल रहा था। और फाटक के बाहर वह आ गया था।

सड़क पर तेज़ी से लोग चल-फिर रहे थे—युवक, चमकदार बाल काढ़े, नहाये—उजले कपड़े पहने—युवतियाँ, खूबसूरत, रंग-बिरंगे कपड़ों में और बच्चे—तन्दुरुस्त, मुस्कुराते हुए—इन सब के लिए भूखे, सताये हुए विवेक के दिल में भाई का प्यार था हालाँकि शायद कोई नहीं जानता था कि उनके लिए उसके दिल में प्यार है। और मीठी लग रही थी उसे इन आदमियों की आवाज़ें जो उसने मुद्दत के बाद आज सुनी थीं—एक अजनबी संगीत की तरह और सुहाने लग रहे थे उसे सुबह की धीमी हवा में काँपते हुये नारियल के झुरमुट और लाल 'बसें' जिन पर वह बैठ नहीं सकता था—जो 'सर्र' से चली जाती थीं जले हुये पेट्रोल की बू और धूल छोड़ती हुई। विवेक का सिर चकरा रहा था और वह—दीवाना—सोच रहा था कि शायद जिन्दगी की शराब से! अपने चारों तरफ़ की हर चीज़ उसे गुलाबी कुहासे में डूबी हुई मालूम पड़ रही थी क्योंकि उसकी आँखों में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह ठीक से खुल कर इस सब को देख सकें!

होटल के पास जो पान-सिगरेट और बिसाती की दूकान थी वह खुली थी और उसका बूढ़ा—बहरा मलाबारी मालिक तेज़ी से बिक्री कर रहा था और सस्ते चश्मे के मोटे शीशे के पीछे से उसकी बूढ़ी आँखें चमक रही थीं। और उसके बराबर का मलाबारी होटल खुला था और उसमें बैठे लोग चाय पी रहे थे—जवान मलाबारी जिनकी हँसी में सोना था, जिनकी बाहों से छिटक कर सूरज की किरनें लौट आती थीं जैसे शीशे से, जो दिन में बोझ उठाते थे मेहनत करते थे और रात को प्यार और जिनकी आवाज़ में

गोपुरों के घन्टों का नाद था। और विवेक के दिल में इनके लिये कोई जलन नहीं थी—इनसे कोई शिकवा नहीं था कि क्यों यह हँस रहे हैं—विवेक जो यातना से त्रस्त और भूख से सताया हुआ था।

ज़िन्दगी का यह रंगीन रूप विवेक को अच्छा लगा और ज़िन्दगी के इस उठान से उसे बल मिला आगे चलने का। और वह आगे बढ़ा, लेकिन शरीर कांप रहा था। जैसे भूखे पेट शराब पी ली हो और सिर घूम रहा था। कुछ दूर चलने के बाद बायें हाथ को एक छोटी सी दूकान थी—एक दूधवाले की—जिन्हें बम्बई में 'भैया' कह कर पुकारा जाता है। विवेक दूधवाले को नहीं जानता था लेकिन दूधवाला विवेक को जानता था और जब विवेक उसकी दूकान के पास आया तो दूधवाले ने उसे हाथ जोड़ कर नमस्ते किया। आज विवेक को अपनी उस मनोस्थिति में हर अजनबी दोस्त मालूम पड़ रहा था—उसने दूधवाले का अभिवादन बड़े स्नेह से स्वीकार किया।

'भैया—कुछ मिठाई दूँ—बिल्कुल ताजी बनी है!'

मिठाई—उस गुलाबी धुँधलके में दो पैने दाँत झलकने लगे—ज़िन्दगी का यह रंगीन रूप—अजनबी के लिये भाई का प्यार—सब—सब कुछ ग़ायब हो गया और सतह पर आ गई अपनी भूख—अपनी मजबूरी—अपना ग़म।

...हाँ—मुझे बहुत भूख लगी है—बहुत भूख—केवल यही सत्य है और यह मुझसे कह रहा है कि मिठाई दूँ? मिठाई! लेकिन मुझे क्यों देगा यह मिठाई—यह समझता है कि मैं उजले कपड़े पहनने वाला बाबू हूँ—इसलिए मैं मिठाई खा सकता हूँ और इसलिये वह मुस्करा भी रहा है लेकिन इसे नहीं मालूम

कि मेरे पास एक पैसा भी नहीं है और मैंने दस रोज से खाना नहीं खाया है—कोई अपनी तबियत से नहीं बल्कि इसलिये कि मेरे पास पैसे नहीं हैं और जब इसे यह मालूम होगा तो यह मेरी तरफ़ से मुँह मोड़ लेगा इस घृणा से मानो मैं कोढ़ी हूँ...

ओर पल भर को विवेक के अन्दर ज़हर दौड़ पड़ा गुस्से का लेकिन दूधवाले की हँसी मासूम थी और विवेक ने बड़ी नम्रता से कहा :

—नहीं, भाई, फिर कभी ! अभी पैसे नहीं हैं !

—आप भी मज़ाक करते हैं, भैया, पैसे की क्या बात ! बोलिए क्या दूँ ?

विवेक विश्वास नहीं कर पा रहा था। क्या ऐसा हो सकता है ? इतने दिनों की भूख और आज यूँ ही, अचानक, जैसे कोई मज़ाक हो...

—मिठाई नहीं, भाई, थोड़ा दूध दो।

—क्यों क्या तबियत ठीक नहीं है ? शकर डाल दूँ ? लेकिन मिठाई ताज़े खोवे की है, नुक़सान नहीं करेगी।

विवेक ने कहा था कि—हाँ—उसकी तबियत ख़राब है हालाँकि वह मिठाई खाना चाहता था—वह सब मिठाई खा सकता था—उसे बहुत भूख लगी थी लेकिन उसने बड़े तकल्लुफ़ के साथ बर्फ़ी के दो बड़े टुकड़े लिए ! उसे अपने आप पर गुस्सा आ रहा था—वह चाहता था कि चीख़ कर कह दे कि वह झूठा है—वह बीमार नहीं है—उसके पास पैसे नहीं हैं जिसके कारण उसने दस दिन से कुछ खाया नहीं है—उसे अपना वर्ग का मिथ्याभिमान है और वह उससे झूठ बोल रहा है—आज क्या वह उसके पैसे कभी नहीं दे सकेगा—

—लेकिन पेट में गर्म, मीठा दूध बहुत अच्छा लग रहा था !

–तो तुम्हारे पैसे पहुँचवा दूँगा जल्दी !

"पैसे के लिए चिन्ता न करें, भैया, जब चाहें !"

झूठ से शर्मिन्दा था विवेक लेकिन पेट भरा हुआ था उसका। उसका चेतन मन धिक्कार रहा था उसे इस नैतिक पतन पर लेकिन उसका शरीर—जो भूखा था, न जाने कब से—ठहाके लगा रहा था खुशी के !

अपने कमरे में वापस आ कर विवेक पलँग पर लेट गया। इस खुशी और आंतरिक घृणा के अलावा उसका जी बड़ी जोर से मितला रहा था ! बहुत दिनों का खाली पेट हजम नहीं कर सका था आध सेर दूध और बर्फ़ी के दो बड़े टुकड़ों को ! जो कुछ अभी अभी उसने खाया-पिया था वह झटके के साथ, शरीर को कँपकँपाता हुआ ऊपर चढ़ रहा था और उसके मुँह में गाढ़ा थूक भर गया था और उसकी कनपटी की नसें जोर से फड़क रही थीं और...और...

उसके उठते-उठते जोर से कै हो गई—किनारे का पलँग, चादर, गद्दे का कुछ हिस्सा खराब हो गया और फर्श पर बद-बूदार, फटा हुआ दूध उलट पड़ा ! भूखे शरीर में दर्द हो रहा था—फिर एक और झटका, फिर थोड़ा और दूध—फिर एक और झटका और दूध नहीं केवल पित्त—शरीर का जोड़ जोड़ दर्द कर रहा था—पट्टी से लटका हुआ सिर लगता था जैसे टूट जायगा—लेकिन मतली का फिर एक और झटका और इस बार केवल गाढ़ा कड़वा थूक—फिर कुछ नहीं लेकिन उससे भी भयानक यह आशंका थी कि फिर कै होगी—आँखों से पानी बह रहा था और भूखा खाली पेट लगता था जैसे अगले झटके के साथ मुँह से निकल पड़ेगा !

पास मेज़ पर रखी हुई बोतल के आठ-दस रोज़ बासी पानी से विवेक ने कुल्ला किया और सोया हाकर पलङ्ग पर अचेत पड़ रहा। जब होश आया, कुछ मिनट बाद, तो नाक में बदबू थी नीचे पड़े हुये पित्त की—शरीर पसीने में भीगा हुआ था—सिर में बहुत ज़ोर का दर्द था—सीने में दर्द हो रहा था और जाड़ा लग रहा था। बड़े प्रयत्न से पैर के पास पड़ा हुआ कम्बल विवेक ने ओढ़ लिया।

फिर एक शून्य..